सत्यार्थ प्रकाश के संशोधन

का

नमूना (१)

जिसमे

स्वामि दयानन्दसरस्वतीजी महाराज

कृत

सत्यार्थप्रकाश की कुछ मोटी २ अशुद्धियों का

संशोधन दर्शाया गया है ॥

१०११

बाम्बे मैशीन प्रेस लाहौर में दुनीचन्द प्रबन्धकर्त्ता

के अधिकार में मुद्रित हुआ ॥

प्रथमवार १०००] [मूल्य)

* निवेदन *

सर्व सज्जन महाशयों की सेवा में सविनय निवेदन है कि महर्षि स्वामि दनानन्द सरस्वतीजी महाराज कृत सत्यार्थप्रकाश के जिन २ लेखों का मैंने संशोधन किया है उन पर दृष्टि डाल कर देखें कि मैंने उन के समझने में कहीं भूल तो नहीं की तथा जो शोधन मैंने किया है उस में भी यदि कोई अशुद्धि हो तो कृपा पूर्वक उससे मुझे शीघ्र सूचित करें ताकि संशोधित सत्यार्थप्रकाश के छपते समय अशुद्धियों को ठीक किया जासके ॥

१०: अप्रैल ।
१९११ ई० ।

जीवनदास पैन्शनर
लाहौर

सत्यार्थप्रकाश के संशोधन का

नमूना (१) *

१—सत्यार्थप्रकाश ७वीं आवृत्ति के पृष्ठ १०० में ईश्वर के दयालु और न्यायकारी होने के विषय में प्रश्नोत्तर की रीति से इसप्रकार छपा है:—

"(प्रश्न) परमेश्वर दयालु और न्यायकारी है वा नहीं? (उत्तर) है (प्रश्न) यह दोनों गुण परस्पर विरुद्ध है, जो न्याय करे तो दया और दया करे तो न्याय छूट जाय, क्योंकि न्याय उसको कहते है कि जो कर्मों के अनुसार न अधिक न न्यून सुख दुःख पहुंचाना और दया उसको कहते है कि अपराधी को बिना दण्ड दिये छोड़ देना (उत्तर) न्याय और दया में नाममात्र ही भेद है क्योंकि जो न्याय से प्रयोजन सिद्ध होता है वही दया से, दण्ड देने का प्रयोजन है कि मनुष्य अपराध करने से बन्द होकर दुःखों को प्राप्त न हों, वही दया कहाती है जो पराये दुःखों को छुड़ाना, और जैसा अर्थ दया और न्याय का तुमने किया वह ठीक नहीं क्योंकि जिसने जैसा और जितना बुरा कर्म किया हो उसको

* यह नमूना तथा मेरा संशोधित आर्य्याभिविनय पुस्तक जिस२ सज्जन के दृष्टिगोचर हों वह कृपा करके उन की अशुद्धियों को, यदि कोई हों, मुझे सूचित करें। इन दोनों का मूल्य क्रमशः /) एक आना और ।) चार आने है।

उतना और वैसा ही दण्ड देना चाहिये उसी का नाम न्याय है और जो अपराधी को दण्ड न दिया जाय तो दया का नाश होजाय क्योंकि एक अपराधी डांकू को छोड़ देने से सहस्रों धर्मात्मा पुरुषों को दुःख देना है, जब एक के छोड़ने से सहस्रों मनुष्यों को दुःख प्राप्त होता है तो वह दया किस प्रकार होसक्ती है? दया वही है कि उस डांकू को कारागार में रखकर पाप करने से बचाना डांकूपर और डांकू को मारदेने से अन्य सहस्रों मनुष्यों पर दया प्रकाशित होती है (प्रश्न) फिर दया और न्याय दो शब्द क्यों हुए? क्योंकि इन दोनों का अर्थ एक ही होता है तो दो शब्दों का होना व्यर्थ है, इसलिये एक शब्द का रहना तो अच्छा था, इससे क्या विदित होता है कि दया और न्याय का एक प्रयोजन नहीं है (उत्तर) क्या एक अर्थ के अनेक नाम और एक नाम के अनेक अर्थ नहीं होते? (प्रश्न) होते हैं (उत्तर) तो पुनः तुमको शंका क्यों हुई (प्रश्न) संसार में सुनते हैं इसलिये (उत्तर) संसार में तो सच झूठ दोनों सुनने में आते हैं परन्तु उनका विचार से निश्चय करना अपना काम है. देखो! ईश्वर की पूर्ण दया तो यह है कि उसने सब जीवों के प्रयोजन सिद्ध होने के अर्थ जगत् में सकल पदार्थ उत्पन्न करके दान दे रखें हैं, इससे भिन्न दूसरी बड़ी दया कौनसी है? अब न्याय का फल प्रत्यक्ष दीखता है कि सुख दुःख की व्यवस्था अधिक और न्यूनता से फल को प्रकाशित कर रही है, इन दोनों में इतना ही भेद है कि जो मन में सब को सुख होने और दुःख छूटने की इच्छा और क्रिया करना है वह दया और बाह्य चेष्टा अर्थात् बन्धन छेदनादि यथावत् दण्ड देना न्याय कहाता है, दोनों का एक प्रयोजन यह है कि सबको पाप और दुःखों से पृथक् कर देना"।

उपरोक्त लेख में निम्नलिखित दोष हैं:—

(१) प्रथम दया और न्याय शब्दों का अर्थ भिन्न २ मानना और फिर उनमें नाममात्र भेद बताना यह परस्पर विरोध है।

(२) नाम मात्र भेद होने की जो यह युक्ति दी है कि उनसे एक ही प्रयोजन सिद्ध होता है वह ठीक नहीं क्योंकि भिन्न २ पदार्थों का भी एक प्रयोजन होता है, जैसे रोटी और दूध दो भिन्न २ पदार्थ हैं परन्तु उनका क्षुधा—निवृत्तिरूप प्रयोजन एक ही है।

(३) दया और न्याय का एक प्रयोजन बताना भी ठीक नहीं क्योंकि उनका प्रयोजन भिन्न २ है, जैसे दया का प्रयोजन दुःखी पुरुष को दुःख से छुड़ाना है और न्याय का अपराधी को दण्ड देकर उस के बुरे संस्कारों को दूर करना, ताकि वह पुनः पाप न करे।

(४) प्रश्नकर्त्ता ने जो संक्षेपता मे कर्मानुसार सुख दुःख देना न्याय बताया है इस को ठीक न मानना ठीक नहीं।

(५) अपराधी को दण्ड न देने से जो दया का नाश होना कहा है यह अयुक्त है क्योंकि दण्ड देना न्याय का काम है इस लिये दण्ड न देने से न्याय का नाश होता है न कि दया का।

(६) डाकू को कारागार में रखकर पाप करने से बचाना डाकू पर और डाकू को मार देने मे अन्य सहस्रों मनुष्यों पर दया का प्रकाशित होना जो कथन किया है यह ठीक नहीं, क्योंकि यह दोनों बातें न्याय का फल होने से न्याय से सम्बन्ध रखती हैं दया से नहीं।

(७) जगत मे जीवों के लिये नाना प्रकार के पदार्थ उत्पन्न करने को जो दया बताया है यह पर दुःख-निवृत्तिरूप दया के लक्षण से बाहर होने के कारण ठीक नहीं, पुनः कोई पदार्थ किसी देश में

उत्पन्न होता है और किसी में नहीं, इस का कारण न्याय-व्यवस्था ही है दया नहीं ।

(८) अन्त में जो पाप और दुःखों से पृथक् करना न्याय तथा दया दोनों का प्रयोजन बताया है यह भी ठीक नहीं क्योंकि यह दोनों बातें दोनों का प्रयोजन नहीं होसक्तीं किन्तु एक २ एक २ का प्रयोजन होसक्ती है, जैसे पाप से पृथक करना न्याय का प्रयोजन है दया का नहीं और दुःख से पृथक करना दया का है न्याय का नहीं ।

अब यह बात स्पष्ट है कि न्याय और दया पर्यायवाची शब्द नहीं किन्तु दो भिन्न २ अविरुद्ध गुणों के नाम हैं, विरुद्ध हों तो एक अधिकरणरूप ईश्वर में न रहसकें। दया और न्याय दोनों ईश्वर के स्वाभाविक गुण हैं, अर्थात ईश्वर दया के अधिकारियों पर सदा दया और न्याय के अधिकारियों पर सदा न्याय ही करता है, परन्तु यह कहा जासक्ता है कि संसार में जितने दुःख प्राणियों को मिलते हैं वह सब ईश्वर के न्याय से मिलते है अन्यथा नहीं फिर वह कौनसा दुःख है जो ईश्वर के न्याय से न मिलता हो और उसका दूर करना न्याय से अविरुद्ध दया कहलासके ! (उत्तर) जो दुःख मनुष्य अपनी अज्ञानता से भोगता है उसका दूर करना दया है, जैसे कोई अपराधी ईश्वर के न्याय से भयभीत होकर पश्चात्ताप पूर्वक प्रार्थना करे कि "हे ईश्वर! मैं भूलगया फिर ऐसा न करूंगा, तु अपनी दया से क्षमा कर" और ईश्वर, इस प्रार्थना को स्वीकार करके उसके भयरूप दुःख को अपनी अन्तर्यामिता से दूर कर दे तो जानना चाहिये कि यही ईश्वर की दया है (प्रश्न) क्या फिर ईश्वर अपराधी को दण्ड नहीं देता? (उत्तर) नहीं देता (प्रश्न) इस से तो ईश्वर का न्याय नष्ट होता है

(उत्तर) न्याय नष्ट नहीं होता क्योंकि उक्त प्रकार की प्रतिज्ञा करने से न्याय का प्रयोजन सिद्ध होकर न्याय पूरा होजाता है और फिर दण्ड देने की आवश्यकता नहीं रहती, यदि फिर भी दण्ड दिया जाय तो न्याय न हो किन्तु अन्याय हो, क्योंकि बिना प्रयोजन के दण्ड देना ही अन्याय है (प्रश्न) क्या प्रतिज्ञा करके फिर मनुष्य अपराध नहीं करसक्ता ! (उत्तर) क्या दण्ड पाकर फिर मनुष्य अपराध नहीं करसक्ता ? यदि करसक्ता है तो प्रतिज्ञा पर आक्षेप करना व्यर्थ है (प्रश्न) जो अपराध होचुका है उस का दण्ड तो अवश्य मिलना चाहिये, क्योंकि कोई कर्म फल भोगे बिना निवृत्त नहीं होसक्ता ?(उत्तर) अपराधी का पश्चात्ताप करना ही इस के अपराधरूप कर्म का फल भोगना है (प्रश्न) जब पश्चात्ताप ही भोगरूपफल है तो यह दुःखरूप होने से एक प्रकार का दण्ड ही है फिर उक्त अभयदान को न्याय कहना चाहिये न कि दया (उत्तर) दण्ड वह होता है जो न्यायाधीश की ओर से मिले परन्तु पश्चात्ताप अपराधी की अपनी चेष्टा है ईश्वर की ओर से नहीं, इसलिये वह दण्ड नहीं कहलासक्ता (प्रश्न) पश्चात्ताप से पाप की निवृत्ति मानना ईसाई, मुसल्मान, ब्राह्म तथा प्रार्थना समाजियों का मत है वैदिकों का नहीं (उत्तर) यह इन लोगों का निज सिद्धान्त नहीं किन्तु उन्होंने हमारे ही शास्त्र से लिया है, जैसेः—

कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते ।
नैवं कुर्यां पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः ॥ १ ॥

मनु० ११ । २३०

अर्थ—पापी पुरुष पश्चात्ताप पूर्वक पाप न करने की प्रतिज्ञा करके पाप से छूटकर पवित्र होजाता है ।

यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये ।
यदे नश्चकृमा वयमिदन्तदवयजामहे स्वाहा ॥२॥

यजु० ३ । ४५

अर्थ–जो पाप हमने ग्राम में वा जङ्गल में वा सभा में वा किसी इन्द्रिय के सम्बन्ध में किये हैं उन को हम सच्चे हृदय से त्यागने की प्रतिज्ञा करते हैं, हे परमात्मन् ! आप क्षमा करें ।

यद्विद्वांसो यदविद्वांस७ एनांसि चकृमा वयम् ।
यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वेदेवाः सजोषसः ॥३॥

अथर्व० ६ । १२ । ११५ । १

अर्थ–जो पाप हमने जानकर वा न जानकर किये हैं उन से अखिल देवस्वरूप प्रेमयुक्त परमात्मा हम को छुड़ावे अर्थात् पापों के दण्ड से बचावे । ऐसी प्रार्थना तभी स्वीकार होसक्ती है जबकि प्रार्थी पश्चात्तापपूर्वक पुनः पाप न करने की प्रतिज्ञा करे, प्रार्थना का स्वीकार करना दया धर्म के अनुकूल ही है, जैसाकि दया शब्द के निम्नलिखित धातुअर्थ से विदित होता है:–

"दय दान गति रक्षण हिंसा दानेषु"=सज्जनों को अभयदान देना, सत्यासत्य का निर्णय करना, सज्जनों की रक्षा करना, दुष्टों को दण्ड देना और सज्जनों की प्रार्थना को स्वीकार करना, यह दया का अर्थ है जिस से हमारे लेख की पुष्टि होती है (प्रश्न) यहां तो दुष्टों को दण्ड देना भी दया का अर्थ बताया है जिसके अनुसार न्याय और दया एक ही ठहरते हैं, फिर इन को भिन्न २ मानना ठीक नहीं (उत्तर) किञ्चित् साधर्म्य मिलने से एकता नहीं होसक्ती और न शब्दों के सब ही अर्थ सब स्थलों में युक्त होते हैं, किन्तु जो अर्थ जहां सङ्गत होता

है वही अर्थ वहां लियाजाता है, यहां ईश्वर के न्याय और दया इन दो भिन्न २ गुणों पर विचार है इसलिये इन के भेदकारक अर्थों पर ही ध्यान देना चाहिये अभेदकारकों पर नहीं (प्रश्न) कर्म मानस, वाचिक और कायिक भेद से तीन प्रकार के हैं, क्या इन तीनों प्रकार के पापरूप कर्मों का फल पश्चात्ताप से भुगता जा सक्ता है वा केवल मानस का ? (उत्तर) तीनों का क्योंकि प्रत्येक पाप का करने वाला आत्मा है और आत्मा ही पश्चात्ताप करता है फिर सब का फल क्यों न भुगता जासके ? (प्रश्न) मानसादि कर्मों के लक्षण क्या हैं ? (उत्तर) जिन कर्मों का मन असाधारण अर्थात् समवायि कारण है वह "मानस" और जिन का वाणी तथा काय असाधारण और मन साधारण=निमित्तकारण है वह "वाचिक" और "कायिक" कर्म कहाते हैं, इस कर्म-लक्षण से भी आत्मा ही सब कर्मों का कर्त्ता और मन आदि इन्द्रियां उसके साधन सिद्ध होती हैं जिससे सब भले बुरे कर्मों का मूल कारण आत्मा का शुद्धाशुद्ध भाव ठैरता है और जो मन आदि इन्द्रियों की बाह्याबाह्य क्रिया है वह उक्त भाव का चिन्हमात्र है (प्रश्न) फिर शास्त्र में पुण्य पाप के फल बताते हुए बाह्य क्रियारूप कर्मों का ही पुण्य पाप क्यों माना है ? (उत्तर) अल्पज्ञ मनुष्य आत्मा के आन्तरीय भावों को नहीं जानसकते, इसलिये शास्त्र में भावों के स्थल में बाह्य क्रियाओं को पुण्य पाप कथन किया है, परन्तु सर्वज्ञ परमेश्वर सब के मनों का साक्षी होने से आत्मिक भावों को जानता और उन्हीं के अनुसार कर्म फल देता है।

(प्रश्न) दया और न्याय के लक्षण और प्रयोजन स्पष्ट करके बताओ कि क्या हैं (उत्तर) दुःखी जीव का दुःख दूर करने की इच्छा दया और दुःख-निवृत्ति इसका प्रयोजन है, ऐसे

ही पापी जीव को विचारपूर्वक दण्ड देना न्याय और उसके बुरे संस्कारों को दूर करना न्याय का प्रयोजन है। इस से स्पष्ट है कि ईश्वर का जीवों के कर्मों का यथावत फल देना न्याय और पापी पुरुष को पश्चात्तापपूर्वक पुनः पाप न करने की प्रतिज्ञा करने पर दुःखरूप दण्ड से निर्भय करना दया है।

२–पृष्ठ २०४ में यह लेख है:–

"(प्रश्न) परमेश्वर त्रिकालदर्शी है इस से भविष्यत् की बातें जानता है वह जैसा निश्चय करेगा जीव वैसा ही करेगा इस से जीव स्वतन्त्र नहीं और जीव को ईश्वर दण्ड भी नहीं दे सकता क्योंकि जैसा ईश्वर ने अपने ज्ञान से निश्चय किया है वैसा ही जीव करता है (उत्तर) ईश्वर को त्रिकालदर्शी कहना मूर्खता का काम है, क्योंकि जो होकर न रहे वह भूतकाल और न होके होवे वह भविष्यतकाल कहाता है, क्या ईश्वर को कोई ज्ञान होके नहीं रहता तथा न होके होता है? इसलिये परमेश्वर का ज्ञान सदा एकरस अखण्डित वर्त्तमान रहता है, भूत भविष्यत् जीवों के लिये हैं, हां जीवों के कर्म की अपेक्षा से त्रिकालज्ञता ईश्वर में है स्वतः नहीं। जैसा स्वतन्त्रता से जीव करता है वैसा ही सर्वज्ञता से ईश्वर जानता है और जैसा ईश्वर जानता है वैसा जीव करता है अर्थात् भूत भविष्यत वर्त्तमान के ज्ञान और फल देने में ईश्वर स्वतन्त्र और जीव किञ्चित वर्त्तमान और कर्म करने में स्वतन्त्र है। ईश्वर का अनादि ज्ञान होने से जैसा कर्म का ज्ञान है वैसा ही दण्ड देने का भी ज्ञान अनादि है दोनों ज्ञान उस के सत्य हैं, क्या कर्मज्ञान सच्चा और दण्ड ज्ञान मिथ्या कभी होसक्ता है? इसलिये इस में कोई दोष नहीं आता"।

इस लेख में कई दोष हैं, जैसे :–

(१) इस लेख में जो ईश्वर को त्रिकालदर्शी मानना मूर्खता का काम बताया है, यह वेदविरुद्ध है, क्योंकि ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पृष्ठ ८० में स्वामीजी ने अथर्ववेद १०।४।४ की व्याख्या करते हुए स्पष्ट लिखा है कि "ईश्वर भूत भविष्यत और वर्तमान तीनों कालों के सब व्यवहारों को यथावत जानता है"।

(२) यह लेख कि "जैसा ईश्वर जानता है वैसा ही जीव करता है" ठीक नहीं है क्योंकि इस से ज्ञेय पदार्थ ज्ञान के अधीन हो जाता है जो ज्ञान के इस लक्षण से कि जैसा पदार्थ हो वैसा ही जानना विरुद्ध है।

(३) "भूत भविष्यत जीवों के लिये हैं" इस लेख से प्रायः आर्य्य भाई भूत भविष्यत **काल** समझ कर यह मानते हैं कि भूत भविष्यत काल जीवों के लिये हैं परमेश्वर के लिये नहीं, और यह उन की भूल है क्योंकि काल सब के लिये समान है, इसलिये उक्त लेख के स्थान में "भूत भविष्यत **ज्ञान** जीवों के लिये हैं परमेश्वर के लिये नहीं" ऐसा लिखना चाहिये।

(४) शेष लेख "अर्थात" इस शब्द से लेकर "होसक्ता है" इस शब्द तक आवश्यक न होने से छोड़ देना चाहिये।

अतएव मेरे विचार में उत्तरदाता का सारा लेख शुद्ध करके स्वामीजी के अपने ही शब्दों में इस प्रकार लिखा जासक्ता है :—

"(उत्तर) ईश्वर को ऐसा त्रिकालदर्शी मानना जिस से जीव की स्वतन्त्रता में बाधा पड़े मूर्खता का काम है, क्योंकि त्रिकालदर्शी होने का यथार्थ अर्थ यह है कि जैसा जीव स्वतन्त्रता से करता है वा करेगा अथवा करचुका है वैसा ही ईश्वर जानता है और ज्ञान शब्द का अर्थ भी यह है कि जैसा पदार्थ हो वैसा ही उसको जानना। ईश्वर के भूत भविष्यत ज्ञान का

अस्वीकार करना भी ठीक नहीं, क्योंकि जो होकर न हो वह भूत और जो न होकर होवे वह भविष्यत ज्ञान कहाता है, क्या ईश्वर को कोई ज्ञान होके नहीं रहता ? अथवा न होके होता है ? कदापि नहीं, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान सदा एकरस अखण्डित वर्त्तमान रहता है, इस से क्या आया कि भूत भविष्यत ज्ञान जीवों के लिये हैं, ईश्वर के लिये नहीं, हां ईश्वर की त्रिकालज्ञता जीवों के कर्मों की अपेक्षा से है, स्वतः नहीं। ईश्वर भूत भविष्यत और वर्त्तमान तीनों कालों के कर्मों का ज्ञाता तथा फलदाता होने में स्वतन्त्र और जीव वर्त्तमान काल के व्यवहारज्ञान और अनुष्ठान में किञ्चित स्वतन्त्र है, पुनः जैसा ईश्वर को जीवों के कर्मों का अनादि ज्ञान है वैसा ही दण्ड देने का ज्ञान भी अनादि है और यह दोनो ज्ञान ईश्वर के सत्य हैं, क्या कर्मज्ञान सच्चा और दण्डज्ञान मिथ्या कभी हो सक्ता है ? कदापि नहीं, इसलिये ईश्वर के त्रिकालदर्शी होने से जीव की स्वतन्त्रता में कोई दोष नहीं आता।

हम निश्चय पूर्वक कहसकते हैं कि स्वामीजी के लेखकों ने उन के आशय को न समझकर वेदविरुद्ध लेख लिखदिया है नहीं तो स्वामीजी जैसे विद्वान की ओर से ऐसा अशुद्ध और परस्पर विरुद्ध लेख लिखा जाना सम्भव प्रतीत नहीं होता। कुछ आर्य्य भाई स्वामीजी के ऐसे भक्त हैं जो उक्त अशुद्ध लेख को ठीक मानकर ईश्वर के त्रिकालदर्शी होने से ही मुनकर होजाते हैं और वह तर्क करते हैं कि जब जीव ही अपने आगामी कर्मों को नहीं जानता तो ईश्वर कैसे जान सक्ता है ? वह भोले भाई इस बात को भूल जाते हैं कि जीव अल्पज्ञ होने से अपने भविष्यत कर्मों को नहीं जानता परन्तु सर्वज्ञ ईश्वर उनको यथावत् जानता है। फिर

वह कहते है कि जो कर्म अभी हुए ही नहीं अर्थात जिनका अब अभाव है उनको कोई क्या जान सक्ता है, इसका उत्तर यही है कि आगामी कर्म अभी हुए तो नहीं परन्तु होंगे अवश्य, क्योंकि कर्मों का कर्ता जीव नित्य है और वह कर्म करने के बिना नहीं रह सक्ता, जीव के आगामी कर्मों का जो वर्तमान में अभाव है वह अत्यन्ताभाव नहीं, किन्तु प्रागभाव है, यदि अत्यन्ताभाव हो तो जीव कोई नया कर्म न कर सके, क्योंकि ऐसा अभाव त्रिकालाबाध होता है अर्थात् किसी काल में भी उस अभाव का नाश नहीं होता। जो कर्म अपनी उत्पत्ति से पूर्व अत्यन्त असत नहीं होते किन्तु कार्य्यरूप से असत और कारणरूप से सत् होते हैं उनका अभाव प्रागभाव कहाता है, अर्थात जीव के जिन कर्मों का वर्त्तमान में क्रिया गुण और नामरूप से व्यवहार नहीं होता उनके अभाव का नाम प्रागभाव है ॥

३—सत्यार्थप्रकाश की भूमिका के पृ० ८६ में यह अशुद्ध लेख है:— "आकांक्षा" किसी विषय पर वक्ता की और वाक्यस्थ पदों की आकांक्षा परस्पर होती है"

शुद्ध:—वाक्यार्थबोध के लिये जो एक पद को दूसरे पद की अपेक्षा वा उत्कण्ठा होती है उसका नाम आकांक्षा है, जैसे—"राम ने रावण को मारा", यह एक वाक्य है, इसमें जो राम कर्त्ता, रावण कर्म और मारा क्रिया पद पड़े हैं वह अपने समूहरूप वाक्य का अर्थबोध कराने के लिये एक दूसरे की सहायता चाहते है, क्योंकि उन में से किसी एक पद के बिना भी वाक्य के अर्थ का बोध नहीं होसक्ता, इस सहायता की चाह का ही नाम आकांक्षा है ॥

४—पृ० ८८ में लिखा है कि "पाप पुण्य के आचरण

देखकर जो सुख दुःख का ज्ञान होता है उसी को शेषवत् कहते हैं"। यह लेख अशुद्ध है, इससे उलटा इसप्रकार होना चाहिये:-
"सुख दुःख को देखकर जो पाप पुण्य का ज्ञान होता है उसी को शेषवत् कहते हैं" ॥

५-पृ० ५७ में वैशेषिक सूत्र का अर्थ तथा उसकी व्याख्या इसप्रकार अशुद्ध लिखी है:-

"क्रियाश्च गुणाश्च विद्यन्ते यस्मिंस्तत् क्रियागुणवत्" जिस में क्रिया गुण और केवल गुण रहैं उस को द्रव्य कहते हैं । उन में से पृथिवी, जल, तेज, वायु, मन और आत्मा ये छः द्रव्य क्रिया और गुणवाले हैं । तथा आकाश, काल और दिशा ये तीन क्रियारहित गुणवाले हैं (समवायि) "समवेतुं शीलं यस्य तत् समवायि, प्राग्वृत्तित्वं कारणं समवायि च तत्कारणं च समवायिकारणम्" "लक्ष्यते येन तल्लक्षणम्" जो मिलने के स्वभावयुक्त कार्य से कारण पूर्वकालस्थ हो उसी को द्रव्य कहते हैं जिस से लक्ष्य जाना जाय जैसा आंख से रूप जाना जाता है उस को लक्षण कहते हैं ।

शुद्धः-क्रिया और गुण वाला होना वा केवल गुण वाला होना अथवा समवायी कारण होना यह द्रव्य का लक्षण है, जैसे पृथिवी, जल, तेज, वायु, मन और आत्मा यह छः द्रव्य क्रिया और गुणवाले हैं, आकाश काल और दिशा यह तीन क्रिया रहित गुणवाले हैं। जो द्रव्य अपने सम्बन्धी द्रव्य से पूर्वकालस्थ हो वह कारण और जिस कारण का कार्य्य उसके साथ समवाय सम्बन्ध रखता हो वह समवायी कारण कहाता है, जैसे घट पट के मिट्टी और तन्तु समवायि कारण हैं। जिससे लक्ष्य जाना जाय वह लक्षण कहाता है, जैसे गौ की शासना गौ का लक्षण है क्योंकि उससे गौ जानी जाती है ॥

६-पृ० ६२ में समवाय सम्बन्ध का यह लेख अशुद्ध है:-

"कारण अर्थात् अवयवों में अवयवी कार्यों में क्रिया क्रिया-वान् गुण गुणी जाति व्यक्ति कार्य कारण अवयव अवयवी इन का नित्य सम्बन्ध होने से समवाय कहाता है और जो दूसरा द्रव्यों का परस्पर सम्बन्ध होता है वह संयोग अर्थात् अनित्य सम्बन्ध है" ॥

शुद्धः–पदार्थों के परस्पर नित्य सम्बन्ध का नाम समवाय सम्बन्ध है, जैसे अवयव अवयवी, गुण गुणी, क्रिया क्रियावान् का परस्पर नित्य सम्बन्ध होने से समवाय सम्बन्ध कहाता है, इस से भिन्न द्रव्यों के अनित्य सम्बन्ध का नाम संयोग सम्बन्ध है, जैसे नदि नाव का संयोग सम्बन्ध आदि है ॥

७–पृ० ६८ में यह अशुद्ध लेख छपा है:–

"इस का यह कार्य्य वा कारण है इत्यादि समवायि, संयोगि, एकार्थसमवायि और विरोधि यह चार प्रकार का लैङ्गिक अर्थात् लिङ्गलिङ्गी के सम्बन्ध से ज्ञान होता है। 'समवायि' जैसे आकाश परिमाणवाला है "संयोगि" जैसे शरीर त्वचावाला है इत्यादि का नित्य संयोग है, "एकार्थसमवायि" एक अर्थ में दो का रहना जैसे कार्यरूप स्पर्श कार्य्य का लिङ्ग अर्थात् जनाने वाला है 'विरोधि' जैसे हुई दृष्टि होनेवाली दृष्टि का विरोधी लिङ्ग है"।

इस लेख में अनेक दोष हैं, जैसे (१) छः प्रकार के लैङ्गिक ज्ञान को चार प्रकार का बताना (२) कार्य कारणरूप लिङ्ग को लिङ्गों में न गिनना और न उसका उदाहरण देना (३) "कार्य्यरूप स्पर्श कार्य्य का लिङ्ग" ऐसा अशुद्ध लेख लिखना (४) विरोधि लिङ्ग का उदाहरण तथा(५)एकार्थसमवायि लिङ्ग का अर्थ ठीक न लिखना (६) संयोगि लिङ्गलिङ्गि के सम्बन्ध को नित्य बताना, इत्यादि दोष हैं। शुद्ध लेख इस प्रकार होना चाहियेः–(अस्य) इसका (इदं) यह (कार्यं) कार्य्य है (कारणं) कारण है (संयोगि) संयोगि है (विरोधी) विरोधी है (समवायि) समवायि है (च)

एकार्थसमवायि है (इति) इत्यादि (लिङ्गकं) लिङ्ग हैं जिनसे लिङ्गि का ज्ञान होता है, इसी ज्ञान का नाम लैङ्गिकज्ञान है और इसी को अनुमानज्ञान भी कहते हैं। लिङ्ग लिङ्गि दोनों का एक अर्थ में रहना "एकार्थसमवायि" कहाता है। इन छयों लैङ्गिक ज्ञानों के उदाहरण यह हैः-(१) कारण-लिङ्गरूप मेघ से लिङ्गिरूप वृष्टि का ज्ञान (२) कार्य्यलिङ्गरूप धूम से लिङ्गिरूप अग्नि का ज्ञान (३) संयोगिलिङ्गरूप आरे से लिङ्गिरूप तक्षा का ज्ञान (४) विरोधिलिङ्गरूप सर्पफुंकार से न्योले आदि लिङ्गि का ज्ञान (५) समवायिलिङ्गरूप शाखा से वृक्षरूप लिङ्गि का ज्ञान और (६) एकार्थसमवायि लिङ्गरूपी रूपकार्य्य से लिङ्गिरूप स्पर्शकार्य्य का ज्ञान, यह छः प्रकार का लैङ्गिक ज्ञान है ॥

८—पृ० ६६ में व्याप्ति का लक्षण अशुद्ध छपा है :-

" जो दोनों साध्य साधन अर्थात् सिद्ध करने योग्य और जिस से सिद्ध किया जाय उन दोनों अथवा एक साधनमात्र का निश्चित धर्म का सहचार है उसी को व्याप्ति कहते हैं, जैसे धूम और अग्नि का सहचार है ॥ २९ ॥ तथा व्याप्य जो धूम उसकी निज शक्ति से उत्पन्न होता है अर्थात् जब देशान्तर में दूर धूम जाता है तब बिना अग्नियोग के भी धूम स्वयं रहता है। उसी का नाम व्याप्ति है अर्थात् अग्नि के छेदन, भेदन, सामर्थ्य से जलादि पदार्थ धूमरूप प्रकट होता है ॥ ३१ ॥ जैसे महत्तत्त्वादि में प्रकृत्यादि की व्यापकता बुद्ध्यादि में व्याप्यता धर्म के सम्बन्ध का नाम व्याप्ति है। जैसे शक्ति आधेयरूप और शक्तिमान् आधाररूप का सम्बन्ध है ॥ ३२ ॥"

पूर्वोक्त व्याप्ति लक्षण में तीन सांख्य सूत्रों का अर्थ अशुद्ध और तीसरे सूत्र के अर्थ में एक पंक्ति छूटी

हुई प्रतीत होती है जैसाकि निम्न लिखित शुद्ध लेख से विदित होगाः—साध्य साधन दोनों का परस्पर अथवा साधन मात्र का साध्य के साथ जो निश्चित धर्म सहचार=अव्यभिचारी सम्बन्ध है उसका नाम व्याप्ति है। जैसे, कृतकत्त्व का अनित्यत्त्व के साथ और अनित्यत्त्व का कृतकत्त्व के साथ जो सम्बन्ध है वह साध्य साधन दोनों के परस्पर सम्बन्ध का उदाहरण है, क्योंकि जो २ वस्तु कृतक है वह अनित्य है और जो अनित्य है वह कृतक है, जैसे घट आदि कृतक होने से अनित्य हैं वैसे ही शरीर आदि अनित्य होने से कृतक हैं। जो धूम का अग्नि के साथ सम्बन्ध है वह साधन मात्र और साध्य के परस्पर अव्यभिचारी सम्बन्ध का उदाहरण है, क्योंकि जहां धूम हो वहां अग्नि अवश्य होती है परन्तु यह आवश्यक नहीं कि जहां अग्नि हो वहां धूम भी हो, जैसे तपा हुआ लोहपिण्ड अग्निरूप होकर भी धूम रहित होता है। (सां० ५।२९)। (प्रश्न) पूर्वोक्त नियत धर्म साहित्य=अव्यभिचारी सम्बन्ध कैसा विवक्षित है ? (उत्तर) निज शक्ति से जो सम्बन्ध उत्पन्न होता है अर्थात् साध्य साधन दोनों का परस्पर अथवा साधनमात्र का साध्य के साथ जो स्वभावसिद्ध सम्बन्ध है वही सम्बन्ध यहां अभिप्रेत है, यह सांख्याचार्य्य का मत है (सांख्य० ५।३१)। आधेयरूप शक्ति का आधाररूप शक्तिमान के साथ जो योग=सम्बन्ध है, जैसे महत्तत्त्वादि में प्रकृति आदि की व्यापकता और प्रकृति आदि में महत्तत्त्वादि की व्याप्यतारूप सम्बन्ध है वही सम्बन्ध यहां विवक्षित है, यह पञ्चशिखाचार्य्य का मत है (सांख्य० ३४)।

९—पृ० ६९ में यह लेख अशुद्ध ...

" जो वेद को स्वर और पाठमात्र पढ़ के अर्थ नहीं जानता

वह जैसा वृक्ष, डाली, पत्ते, फल, फूल और अन्य पशु धान्य आदि का भार उठाता है वैसे भारवाह अर्थात् भार का उठाने वाला है और जो वेद को पढ़ता और उनका यथावत् अर्थ जानता है वही सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त होके देहान्त के पश्चात् ज्ञान से पापों को छोड़ पवित्र धर्माचरण के प्रताप से सर्वानन्द को प्राप्त होता है" ॥

शुद्ध इस प्रकार है:—जो मनुष्य वेद को पाठ मात्र पढ़ता है और अर्थ नहीं जानता वह स्वर सहित पढ़ता हुआ भी निश्चित शाखा पत्ते फल फूल का भार उठाने वाले वृक्ष अथवा धान्य आदि का भार उठाने वाले पशु के समान है और जो वेद को अर्थ सहित पढ़कर तदनुकूल आचरण करता है वह निश्चित निष्पाप होकर सुख पाता और देहान्त के पश्चात मुक्त होजाता है ॥

१०—पृ० ८६ में ऋ० १।१७९।१ मन्त्र का यह अर्थ अशुद्ध है:—

"(नु) शीघ्र (शश्रमाणा) अत्यन्त श्रम करनेहारे (वृषणः) वीर्य सींचने में समर्थ पति [illegible] (पत्नीः) युवावस्थास्थ हृदयों को प्रिय स्त्रियों को (जगम्युः) प्राप्त होकर पूर्ण शत वर्ष वा उस से अधिक वर्ष आयु को आनन्द से भोगते और पुत्र पौत्रादि से संयुक्त रहते हैं वैसे स्त्री पुरुष सदा वर्त्तें जैसे (पूर्वीः) पूर्व वर्त्तमान (शरदः) शरद् ऋतुओं और (जरयन्तीः) वृद्धावस्था को प्राप्त करानेवाली (उषसः) प्रातःकाल की वेलाओं (दोषाः) रात्रि और (वस्तोः) दिन (तनूनाम्) शरीरों की (श्रियम्) शोभा को (जरिमा) अतिशय वृद्धपन बल और शोभा को दूर कर देता है वैसे (अहम्) मैं स्त्री वा पुरुष (उ) अच्छे प्रकार (अपि) निश्चय करके ब्रह्मचर्य से विद्या शिक्षा शरीर और आत्मा के बल और युवावस्था को प्राप्त हो ही के विवाह करूं इससे विरुद्ध करना वेद विरुद्ध होने से सुखदायक विवाह कभी नहीं होता ॥ ३ ॥"

शुद्ध अर्थ इस प्रकार होना चाहिये:— जैसे (नु शश्रमाणा)

अत्यन्त पराक्रम युक्त (वृषणः) वीर्य्य सिंचन में समर्थ युवा पुरुष (पत्नी) प्रिय स्त्रियों को (जगम्युः) प्राप्त होकर सौवर्ष वा इससे अधिक आयु पर्य्यन्त गृहस्थानन्द को भले प्रकार भोगते हैं, जैसे (दोषाः) रात्रि और (वस्तोः) दिन (पूर्वीः) पूर्व=युवावस्था की (शरदः) शरद ऋतुओं और (जरयन्ति) वृद्धावस्था तक पहुंचाने वाली (उषः) प्रातःकाल की वेलाओं को आनन्दपूर्वक व्यतीत करा देते हैं और जैसे (जरिमा) अतिशय वृद्धपन (तनूनां) शरीरों की (श्रियं)शोभा को किसी प्रकार का दुःख वा शोक अनुभव कराये बिना(मनाति) दूर कर देता है वैसे ही (अहं,अपि) हम स्त्री पुरुष भी वृद्ध अवस्था को (उ) भले प्रकार भोगते हुए शरीर को शोभा रहित करें।

भावार्थ–सब स्त्री पुरुषों को उचित है कि ब्रह्मचर्य्याश्रम में शारीरिक और आत्मिक बल को बढ़ा तथा पूर्ण शिक्षा और विद्या पाकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें और वहां प्रातः तथा सायंकाल की वेलाओं को सन्ध्या, अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों का यथाविधि अनुष्ठान करते कराते आनन्दपूर्वक व्यतीत करके पश्चिमावस्था में वानप्रस्थ तथा संन्यासाश्रम के सम्पूर्ण धर्मों का यथायोग्य पालन करते हुए अपने भौतिक शरीर को इस प्रकार त्यागें जैसे कोई सुन्दर पक्षी उत्तम वृक्ष के रसदायक फलों को यथारुचि पान करके तृप्त हो वृक्ष को छोड़कर आनन्द पूर्वक आकाश में उड़ जाता है॥

११–पृ० १०८। मनु० ४।१७५ का यह अर्थ अशुद्ध हैः–

"विद्वान् वेदोक्त सत्य धर्म अर्थात् पक्षपात रहित होकर सत्य के ग्रहण और असत्य के परित्याग न्यायरूप वेदोक्त धर्मादि आर्य्य अर्थात् धर्म में चलते हुए के समान धर्म से शिष्यों को शिक्षा किया करें"।

शुद्ध–विद्वान्=आचार्य्य वा गुरु आर्य्यों के आचार व्यवहार पर चलते हुए वाणी, बाहु और उदर को वश में करके शिष्यों को सदा वेदोक्त धर्म की शिक्षा किया करें। किसी को कटु वचन न बोलना वाणी का, बिना अपराध के किसी को बाहु बल से दुःख न देना बाहु का और जो कुछ मिले उसी से उदरपूर्णा करके सन्तुष्ट रहना उदर का वश में करना कहाता है। श्रेष्ठ पुरुषों का नाम आर्य्य है॥

१२–पृ० १३६। धर्म के दश लक्षणों के वर्णन में क्षमा आदि का अर्थ अशुद्ध लिखा है, जैसेः—

अशुद्ध–(क्षमा) निन्दास्तुति मानाऽपमान हानि लाभ आदि दुःखों में भी सहनशील रहना।

शुद्ध–(क्षमा) पर अपराध को सहारना, अर्थात् कोई निन्दा, अपमान, हानि आदि करे तब भी अशान्त चित्त न होना।

अशुद्ध–(धीः) मादकद्रव्य बुद्धिनाशक अन्य पदार्थ दुष्टों का संग आलस्य प्रमाद आदि को छोड़ के श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन सत्पुरुषों का संग योगाभ्यास से बुद्धि का बढ़ाना।

शुद्ध–(धीः) आत्मा तथा परमात्मा का यथार्थज्ञान लाभ करना, अथवा मादक=बुद्धिनाशक पदार्थों को छोड़कर बुद्धिवर्द्धक पदार्थों का सेवन करना, दुष्टों के सङ्ग तथा आलस्यप्रमादादि को त्यागकर सत्पुरुषों का सङ्ग तथा प्राणायाम=योगाभ्यास करना जिससे बुद्धि बढ़ती है।

अशुद्ध–(विद्या) पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त यथार्थ ज्ञान और उन से यथायोग्य उपकार लेना सत्य जैसा आत्मा में वैसा मन में, जैसा मन में वैसा वाणी में, जैसा वाणी में वैसा कर्म में, वर्त्तना विद्या, इससे विपरीत अविद्या है।

शुद्ध–(विद्या) वेदादि शास्त्रों को यथार्थरूप से जानना अर्थात्

शास्त्रों को ठीक २ पढ़ सुनकर पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्य्यन्त पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करना ताकि उनसे अनेक विधि उपकार लेने की शक्ति उत्पन्न हो।

अशुद्ध–(सत्य) जो पदार्थ जैसा हो उसको वैसा ही समझना, वैसा ही बोलना और वैसा ही करना।

शुद्ध–(सत्य) जैसा देखा सुना हो वैसा ही कहना और करना।

अशुद्ध–(अक्रोध) क्रोधादि दोषों को छोड़ के शान्त्यादि गुणों का ग्रहण करना धर्म का लक्षण है।

शुद्ध–(अक्रोध) निमित्त होनेपर भी क्रोध न करना। यह धर्म के दश लक्षण हैं॥

१३–पृ० १३९। अशुद्धः–"जो ब्रह्म और जिस से दुष्ट कर्मों का त्याग किया जाय वह उत्तम स्वभाव जिसमें हो वह संन्यासी कहाता है इससे सुकर्म्म का कर्त्ता और दुष्ट कर्मों का नाश करने वाला संन्यासी कहाता है"।

शुद्ध–(सम्यक्) भले प्रकार (नित्यम्) सदा (आस्ते) निवास करता है ब्रह्म (यस्मिन्) जिस आश्रम में (यद्वा) अथवा (दुखदानि) दुखदायक (कर्माणि) कर्म (सम्यक्) भले प्रकार (न्यस्यन्ति) छूट जाते हैं (येन) जिस उत्तम स्वभाव से (सः) वह उत्तम स्वभाव अथवा आश्रम (सन्यासः) सन्यास है, (प्रशस्तः) ऐसा प्रशंसनीय सन्यास (विद्यते) विद्यमान है (यस्य) जिस मनुष्य के हृदय में वह मनुष्य (सन्यासी) सन्यासी है। भाव यह है कि जो मनुष्य कुकर्मों का त्याग करके सदा सुकर्म ही करता है वह सन्यासी है, सिर मुण्डवाने वा भगवा कपड़ा पहरने से सन्यासी नहीं होता॥

१४–पृ० १८७। यहां जो वेदों में अनेक देवताओं के होने का प्रश्न उठाकर उसके उत्तर में तैंतीस देवताओंका वर्णन किया

है उसकी भाषा ठीक नहीं, इससे अतिरिक्त वेद मन्त्रों को आरम्भ में लिखना असङ्गत है और जो वेद के प्रमाण से "अष्टिंशास्त्रिंशता०" शब्द लिखा है यह भी ठीक नहीं, ठीक "अष्टिंशत०" है, इसलिये भाषा को ठीक करके यह सारा लेख निम्न प्रकार से लिखा जायगा :-

(प्रश्न) वेदों में अनेक ईश्वर लिखे हैं वा नहीं (उत्तर) नहीं (प्रश्न) वेदों में जो ३३ देवताओं का वर्णन है उस का क्या तात्पर्य है ? (उत्तर) यजुर्वेद १४-३१ में दिव्यगुण युक्त होने से सूर्य्यादिक ३३ भौतिक पदार्थों को देवता नाम से लिखा है, उपासनीय देवता इनको कहीं नहीं लिखा, किंतु ऋग्वेद १-१६५-३ में उस देव को पूजनीय बताया है जो सब देवताओं का निवास स्थानरूप परमात्मा है, अतएव यह लोगों की भूल है कि देवता वा देव शब्द से प्रकरण का ध्यान न करके सर्वत्र परमेश्वर का ही ग्रहण करते हैं। यजुर्वेद में कहे ३३ देवताओं की व्याख्या शतपथ ब्राह्मण (२४-१६-४) में इसप्रकार की है:-८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, १ इन्द्र और १ प्रजापति, यह ३३ देवता हैं। वसु शब्द का अर्थ बसानेवाला, रुद्र का रुलाने वाला, आदित्य का खण्डन करने वाला, इन्द्र का ऐश्वर्य्यवान् और प्रजापति का जगत्स्वामी होने से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य और नक्षत्र यह ८ पदार्थ वसु इसलिये कहाते हैं कि इनमें सृष्टि वास करती है, प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और जीवात्मा, यह ११ पदार्थ रुद्र इसलिये कहाते हैं कि शरीर को छोड़ते समय शारीरिक सम्बन्धियों को रुलाते हैं, १२ महीनों का नाम १२ आदित्य इसलिये हैं कि वह सब के आयु को काटते हैं, बिजुली का नाम इन्द्र इसलिये है कि वह ऐश्वर्य की प्राप्ति

का मुख्य साधन है और यज्ञ का नाम प्रजापति इसलिये है कि उससे वायु, वृष्टि जल तथा औषधि की शुद्धि, विद्वानों का सत्कार और सब प्राणियों का उद्धार होता है। यही ३३ पदार्थ पूर्वोक्त गुणों के योग से ३३ देव कहाते हैं और सब का स्वामी तथा सब से बड़ा होने के कारण परमात्मा ३४वां उपास्य देव है। निम्न लिखित वेद मन्त्रों से भी इसी बात की पुष्टि होती है:— (यहां पूर्वोक्त वेद मन्त्रों को लिखना संगत है) ॥

१५—पृ० १८९। अशुद्ध—"(प्रश्न) आप ईश्वर २ कहते हो परन्तु उस की सिद्धि किस प्रकार करते हो ? (उत्तर) सब प्रत्यक्षादि प्रमाणों से (प्रश्न) ईश्वर में प्रत्यक्षादि प्रमाण कभी नहीं घट सकते (उत्तर) इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्। न्याय० १। ४॥ यह गौतम महर्षिकृत न्यायदर्शन का सूत्र है—जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण और मन का शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सुख, दुःख सत्यासत्य आदि विषयों के साथ सम्बन्ध होने से ज्ञान उत्पन्न होता है उसको प्रत्यक्ष कहते हैं परन्तु वह निर्भ्रम हो। अब विचारना चाहिये कि इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है गुणी का नहीं जैसे चारों त्वचा आदि इन्द्रियों से स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान होने से गुणी जो पृथिवी उसका आत्मा युक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है वैसे इस प्रत्यक्ष सृष्टि में रचना विशेष आदि ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है"।

शुद्ध—(प्रश्न) आप ईश्वर २ कहते हैं परन्तु इसकी सिद्धि कैसे करते हैं ? (उत्तर) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से (प्रश्न) प्रत्यक्ष प्रमाण ईश्वर में कभी नहीं घट सक्ता क्योंकि ईश्वर इन्द्रियों का विषय नहीं है (उत्तर) प्रत्यक्ष प्रमाण केवल इन्द्रियजन्य नहीं है किन्तु बाह्य, मानस और योगज भेद से तीन प्रकार का है, जैसे:—'इन्द्रियार्थ०'

अर्थ–श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और घ्राण इन ५ ज्ञान इन्द्रियों का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के साथ सम्बन्ध होने से जो निश्चयात्मक यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष कहाता है। यह "बाह्य" प्रत्यक्ष है, मन जो आन्तरीय इन्द्रिय है इसके द्वारा सुख दुःख आदि का जो ज्ञान होता है वह "मानस" और योगाभ्यास द्वारा एकाग्रचित्त होने से जो ज्ञान होता है वह "योगज" प्रत्यक्ष कहाता है, इस योगज प्रत्यक्ष से ईश्वर प्रत्यक्ष होता है बाह्य और मानस से नहीं, मानस प्रत्यक्ष से ईश्वर की सिद्धि इसलिये नहीं होती कि मन सदा सान्सारिक पदार्थों में फंसा रहता है, हां जब यथायोग्य उपाय करने से मन के विक्षेप आदि सब दोष दूर होजाते हैं तब ईश्वर का प्रत्यक्ष होता है, इसमें प्रमाणः–

(१) अपिसंराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् (वे० ३-२-२४)

अर्थ–योगी लोग उपासनाकाल में परमात्मा का साक्षात् दर्शन करते हैं, यह बात श्रुति स्मृति दोनों से सिद्ध है ।

(२) न चक्षुषागृह्यते नापिवाचा नान्यैर्देवैस्तपसाकर्मणा वा । ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्तस्तु तंपरायत निष्कलंध्यायमनः । मुं० ३ । ८ ।

अर्थ–परमात्मा न चक्षु से ग्रहण होता है, न वाणी से, न अन्य इन्द्रियों से, न तप से और न कर्म से, हां जिनका सत्वगुण ज्ञान के प्रभाव से बढ़ गया है वह परमात्मा को ध्यान योग से देखते हैं॥

१६–पृ० २०० । प्रश्न–"ईश्वरासिद्धेः ॥ सां० १ । ९२ ॥ प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः ॥ सां० ५ । १० ॥ सम्बन्धाभावान्नानुमानम् ॥ सां० ५ । ११ ॥

प्रत्यक्ष से घट सकते ईश्वर की सिद्धि नहीं होती ॥१॥ क्योंकि जब उसकी सिद्धि में प्रत्यक्ष ही नहीं तो अनुमानादि प्रमाण नहीं हो सकता ॥ २ ॥ और व्याप्ति सम्बन्ध न होने से अनुमान भी नहीं हो सकता पुनः प्रत्यक्षानुमान के न होने से शब्द प्रमाण आदि भी नहीं घट सकते इस कारण ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती ॥ ३ ॥ (उत्तर) यहां ईश्वर की सिद्धिमें प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है और न ईश्वर जगत् का उपादान कारण है और पुरुष से विलक्षण अर्थात् सर्वत्र पूर्ण होने से परमात्मा का नाम पुरुष और शरीर में शयन करने से जीवका भी नाम पुरुष है क्योंकि इसी प्रकरण में कहा है:—

प्रधानशक्तियोगाच्चेत्सङ्गापत्तिः ॥ १ ॥ सत्तामात्राच्चेत्सर्वैश्वर्य्यम् ॥ २ ॥ श्रुतिरपि प्रधानकार्य्यत्वस्य ॥ ३ ॥ सां० अ० ५ । सू० ८ । ९ । १२ ॥

यदि पुरुष को प्रधान शक्ति का योग हो तो पुरुष में सङ्गापत्ति हो जाय अर्थात् जैसे प्रकृति सूक्ष्म से मिलकर कार्यरूप में सङ्गत हुई है वैसे परमेश्वर भी स्थूल होजाय इसलिये परमेश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं किन्तु निमित्त कारण है ॥ १ ॥ जो चेतन से जगत् की उत्पत्ति हो तो जैसा परमेश्वर समग्रैश्वर्ययुक्त है वैसा संसार में भी सर्वैश्वर्य का योग होना चाहिये सो नहीं है इसलिये परमेश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं किन्तु निमित्त कारण है ॥ २ ॥ क्योंकि उपनिषद् भी प्रधान ही को जगत् का उपादान कारण कहती है ॥ ३ ॥ जैसे:—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः । श्वेताश्वतर उपनिषद् (अ० ४ । मं० ५ ॥)

जो जन्म रहित सत्त्व, रज, तमोगुणरूप प्रकृति है वही स्वरूपाकार से बहुत प्रजारूप होजाती है अर्थात् प्रकृति परिणामिनी होने से अवस्थान्तर होजाती है और पुरुष अपरिणामी होने से वह अवस्थान्तर होकर दूसरे रूप में कभी नहीं प्राप्त होता सदा कूटस्थ निर्विकार रहता है इसलिये जो कोई कपिलाचार्य्य को अनीश्वर

वादी कहता है जानो वही अनीश्वरवादी है कपिलाचार्य नहीं । तथा मीमांसा का धर्म धर्मी से ईश्वर से वैशेषिक और न्याय भी आत्म शब्द से अनीश्वरवादी नहीं क्योंकि सर्वज्ञत्वादि धर्मयुक्त और " अतति सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा " जो सर्वत्र व्यापक और सर्वज्ञादि धर्मयुक्त सब जीवों का आत्मा है उस को मीमांसा वैशेषिक और न्याय ईश्वर मानते है" ।

पूर्वोक्त लेख में कई दोष हैं जैसे (१) पुरुषपरमात्मा का वर्णन असंगत है, इसका सम्बन्ध उपक्रम योगसूत्रार्थ के साथ पाया जाता है (२) सांख्य सूत्रों का अर्थ अशुद्ध है (३) उपनिषद्वाक्य का अर्थ ठीक नहीं (४) उपादान कारण का वर्णन ऐसे ढंग से किया गया है जिससे वह असंगत प्रतीत होता है । यह सारा लेख इसप्रकार होना चाहियेः—प्रश्न (१) प्रत्यक्ष प्रमाण से ईश्वर की असिद्धि है क्योंकि (२) ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं घट सक्ता और (३) व्याप्ति सम्बन्ध न होने से अनुमान भी नहीं हो सकता, पुनः प्रत्यक्ष और अनुमान के न होने से शब्द प्रमाणादि भी नहीं घट सक्के (उत्तर) जिस प्रत्यक्ष प्रमाण से उक्त सूत्र में ईश्वर की असिद्धि बताई है उसका लक्षण उपक्रम सांख्य सूत्र में किया गया है जो बाह्य=साकार पदार्थों की सिद्धि के लिये है, परमेश्वर जैसे निराकार पदार्थों के लिये नहीं, क्योंकि इनकी सिद्धि केवल योगज प्रत्यक्ष से होती है. इससे क्या आया कि उक्त सूत्र वेदोक्त ईश्वर की सिद्धि से सम्बन्ध नहीं रखता और न वहां ईश्वर की सिद्धि का प्रकरण है, प्रकरण तो सूत्र ८९ से प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण का चला हुआ है सो उसी प्रकरण में उक्त सूत्र रचा गया है, अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण के उक्त लक्षण पर पूर्वपक्ष की ओर से यह अव्याप्ति दोष लगाये जाने पर कि " वह लक्षण (जैनियों के से) कृत्रिम ईश्वर के प्रत्यक्ष ज्ञान में नहीं घटता क्योंकि वह इन्द्रि-

यार्थ संयोग बिना ही सब पदार्थों का प्रत्यक्ष कर लेता है” उक्त सूत्र में यह उत्तर दिया गया कि ऐसा ईश्वर ही सिद्ध नहीं तो शंका कैसे होसकती है अर्थात् शंका निर्मूल है।

अब रहा सूत्र १० तथा ११, सो यह दोनों सूत्र ईश्वर के खण्डन से सम्बन्ध नहीं रखते किन्तु ईश्वर के उपादान कारण होने के खण्डन के विषय में हैं और उनका अर्थ यह है:—

प्रत्यक्षप्रमाण न होने से ईश्वर के उपादान कारण होने की सिद्धि नहीं होती (सूत्र १०) और व्याप्ति सम्बन्ध न होने से अनुमान प्रमाण भी नहीं घट सकता (११)। यह दोनों सूत्र ईश्वर के उपादान कारण के खण्डन में हैं यह बात उनके समीपस्थ सूत्र ८, ९ तथा १२ से स्पष्ट पाई जाती है जिनका अर्थ यह है:—

यदि पुरुष के साथ प्रधान शक्तिका योग हो तो पुरुष में सङ्गापति=सङ्ग दोष आजाय अर्थात् जैसे प्रकृति कार्यरूप में परिणत होकर सूक्ष्म से स्थूल हुई है वैसे परमेश्वर भी स्थूल हो जाय (सूत्र८) यदि ईश्वर की सत्तामात्र से जगत् की उत्पत्ति होती तो जैसा परमेश्वर समग्र ऐश्वर्य युक्त है वैसा जगत् भी होता (सूत्र९) परन्तु नहीं है, इसलिये परमेश्वर जगत का उपादान कारण नहीं किन्तु निमित्त कारण है, श्रुति भी जगत को प्रधान का कार्य बताती है(सूत्र१२)जैसे:—(अजामेकाम्०) अर्थ—(अजाम्) अजन्मा (एकाम्) एक (लोहित, शुक्ल, कृष्णाम्) रजोगुण, सत्वगुण और तमोगुण विशिष्ट प्रकृति (स्वरूपः) अपने समान जड़ रूपवाली (बह्वीः)बहुत सी (प्रजाः) प्रजाओं को (सृजमानाम्) रचती है। सार यह है कि सांख्यसूत्रों से उनके कर्त्ता कपिलाचार्य को अनीश्वरवादी समझना उन के यथार्थ अर्थ को न जानना है। (प्रश्न) क्या सांख्यकर्त्ता की न्याई मीमांसा, वैशेषिक और न्याय के कर्त्ता भी

ईश्वरवादी है ? (उत्तर) हैं, क्योंकि मीमांसा में सर्वज्ञत्व आदि दिव्य गुणों से युक्त होने के कारण " देव " और वैशेषिक तथा न्याय में सर्व व्यापकत्व गुण से युक्त होने के कारण "आत्मा" नाम से ईश्वर को माना है ॥

१७—पृ० २१८। अशुद्ध—"(प्रश्न) आदि सृष्टि में एक जाति थी वा अनेक ? (उत्तर) एक मनुष्य जाति थी पश्चात् " विजानीह्यार्य्यान्ये च दस्यवः " यह ऋग्वेद का वचन है। श्रेष्ठों का नाम आर्य्य विद्वान् देव और दुष्टों के दस्यु अर्थात् डाकू मूर्ख नाम होने से आर्य्य और दस्यु दो नाम हुए "उत शूद्रे उतार्ये" अथर्ववेद वचन—आर्य्यों में पूर्वोक्त प्रकार से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार भेद हुए द्विज विद्वानों का नाम आर्य्य और मूर्खों का नाम शूद्र और अनार्य अर्थात् अनाड़ी नाम हुआ"।

शुद्धः—(प्रश्न) आदि सृष्टि में मनुष्यजाति एक थी वा अनेक ? (उत्तर) एक, परन्तु गुण कर्म स्वभाव के भेद से आर्य्य=श्रेष्ठ और दस्यु=दुष्ट यह दो विभाग होगये। ऋ० १।५१।८ से भी यही दो भेद मनुष्यजाति के सिद्ध होते हैं। इस मन्त्र का अर्थ यह है:—

" हे परमात्मन् ! आप (आर्य्यान्) श्रेष्ठों को (विजानीहि) विशेष करके जानें (ये, च, दस्यवः) और जो दुष्ट हैं उन को (बर्हिष्मते) यज्ञ की रक्षा के लिये (रन्धि) वशीभूत करें (अव्रतान्) व्रतभंगियों को (आ,शासव) भलेप्रकार शासन करें (यजमानस्य) वेदविहित कर्म करने वालों को (चोदिता) शुभकर्मों में प्रेरित करते हुए (शाकी, भव) शक्ति देने वाले हों ताकि वह (ते) आप के (सधमादेषु) उत्तम राज्य में सुखपूर्वक वास करते हुए (ता) उन (विश्वेत) आप के सब उत्तम कामों की स्तुति करें"। ज्ञात रहे कि विद्वान् आर्य्य द्विज और अविद्वान् आर्य्य शूद्र कहाते हैं,

लोक में जो अनाड़ी शब्द प्रसिद्ध है वह अनार्य्य का अपभ्रंश है, अर्थात् आर्य्य नाम विद्वानों से भिन्न जो मूर्ख वा अनजान हों वह "अनाड़ी" कहाते हैं, यदि कोई शूद्रों को आर्य्यवंश से बाहर गिने तो वह दस्यू ठहरेंगे जो ठीक नहीं क्योंकि दस्यू द्विजों के सेवक नहीं होसक्ते। अथर्व० १९। ६२ से भी ऐसा ही पाया जाता है क्योंकि उस मंत्र में शूद्रों को आर्य्यों के चार वर्णों में गिना है। उक्त मंत्र और उस का अर्थ यह है :-

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥

अर्थ—हे प्रिय परमात्मन्! (मा) मुझको (देवेषु) ब्राह्मण वर्ण में (प्रियं) प्रिय (कृणु) करो (मा) मुझको (राजसु) क्षत्रिय वर्ण में (प्रियं) प्रिय (कृणु) करो (उत) और (अरिये) वैश्य वर्ण का तथा (सर्वस्य) सब मनुष्यों का (प्रियं) प्रिय (पश्यत) देखो अर्थात् जानो वा करो॥

१८—पृ० २६५। अशुद्ध—" नपुन्सक गर्भ की स्थिति समय स्त्री पुरुष के शरीर में सम्बन्ध करके रज वीर्य के बराबर होने से होता है"

शुद्धः—नपुंसक गर्भ की स्थिति सम्बन्ध करने के समय स्त्री पुरुष के शरीर में रज वीर्य के बराबर होने से होती है, अर्थात् नपुंसक गर्भ की स्थिति तब होती है जब स्त्री पुरुष के शरीर में सम्बन्ध करने के समय रज वीर्य बराबर हों॥

१९—पृ० २७२—पंक्ति ०८ में यह लेख अशुद्ध है—" जो उत्तम सत्त्व गुण युक्त होकर उत्तम कर्म करते हैं वह ब्रह्मा सब वेदों का वेत्ता विश्वसृज सब सृष्टिक्रम विद्या को जानकर विविध विमानादि यानों को बनानेहारे धार्मिक सर्वोत्तम बुद्धि युक्त और अव्यक्त के जन्म और प्रकृति वशित्व सिद्धि को प्राप्त होते हैं"।

शुद्ध–'ब्रह्मा'=सत्त्व गुणयुक्त होकर उत्तम कर्म करने वाले चारों वेदों के वेत्ता, 'विश्वसृज'=सृष्टिक्रम विद्या के बल से विविध विमानादि यानों को बनाकर विश्व का उद्धार करने वाले, 'धर्म'=अत्यन्त धार्मिक, 'महान्'=सर्वोत्तम बुद्धियुक्त और 'अव्यक्त'=प्रकृति वशित्व सिद्धि युक्त मनुष्य के जन्म को प्राप्त होते हैं॥

२०–पृ० २७२। अशुद्ध–"जो मुक्त होते हैं वह गुणा .त अर्थात् सब गुणों के अभावों में न फसकर महायोगी होकर मुक्ति का साधन करें क्योंकि:-

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ १ ॥ पा० १ । २ ॥
तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ २ ॥ पा० १ । ३ ॥

यह योगशास्त्र पातञ्जल के सूत्र हैं–मनुष्य रजोगुण तमोगुण युक्त कर्मों से मन को रोके शुद्ध सत्त्वगुणयुक्त कर्मों से भी मन को रोक शुद्ध सत्त्वगुणयुक्त हो पश्चात् उसका निरोधकर एकाग्र अर्थात् एक परमात्मा और धर्मयुक्त कर्म इनके अग्रभाग में चित्त को ठहरा रखना निरुद्ध अर्थात् सब ओर से मन की वृत्ति को रोकना। ॥१॥ जब चित्त एकाग्र और निरुद्ध होता है तब सब के द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीवात्मा की स्थिति होती है ॥२॥ इत्यादि साधन मुक्ति के लिए करे"।

शुद्ध–जो पूर्वोक्त साधनों द्वारा जीवनमुक्त होजाये, वह त्रिगुणातीत होकर अर्थात् तीनों गुणों के बंधन से छूटकर महायोगी होने का साधन करें, क्योंकि योगशास्त्र में कैवल्य मुक्तिप्राप्ति का यही एक साधन लिखा है, जैसेः–(देखो पूर्वोक्त दो सूत्र) अर्थ–प्रथम योगी तमोगुण तथा रजोगुण की वृत्तियों से मन को रोके और सत्वगुण की वृत्तियों से भी रोकने का उपाय करे ॥१॥ इसप्रकार मन के रोकने से सर्वद्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में स्थिति होती है ॥ २ ॥

२१-पृ० ३०५। अशुद्ध-"(प्रश्न) अश्वमेध, गोमेध, नरमेध आदि शब्दों का अर्थ क्या है (उत्तर) इन का अर्थ तो यह है कि ,...."राजान्याय धर्म से पजा का पालन करे विद्यादि का देने हारा यजमान और अग्नि में घी आदि का होम करना अश्वमेध, अन्न इन्द्रियां किरण पृथ्वी आदि को पवित्र रखना गोमेध, जब मनुष्य मर जाय तब उसके शरीर का विधि पूर्वक दाह करना नरमेध कहाता है" ।

शुद्ध-राजे का न्याय धर्म्म से प्रजा का पालन करना, विद्यादि का दान देना और घी आदि का होम करना 'अश्वमेध', अन्न, इन्द्रियां, पृथ्वी आदि को पवित्र रखना तथा सूर्य्य की धूप रूप किरणों से शरीर आदि को तपाकर शुद्ध करना 'गोमेध' और मृतक शरीर का विधिपूर्वक दाह करना 'नरमेध' कहाता है ॥

२२-पृ० ४४६ । अशुद्ध-:-" बीच में सर्वज्ञ हुआ अनादि शास्त्र का अर्थ नहीं होसक्ता क्योंकि किए हुए असत्य वचन से उसका प्रतिपादन किस प्रकार से होसके ॥ १ ॥ और जो परमेश्वर ही के वचन से परमेश्वर सिद्ध होता है तो अनादि ईश्वर से अनादि शास्त्र की सिद्धि, अनादि शास्त्र से अनादि ईश्वर की सिद्धि अन्योऽन्याश्रय दोष आता है ॥ २ ॥ क्योंकि सर्वज्ञ के कथन से वह वेदवाक्य सत्य और उसी वेदवचन से ईश्वर की सिद्धि करते हो यह कैसे सिद्ध होसक्ता है? । उस शास्त्र और परमेश्वर की सिद्धि के लिए तीसरा कोई प्रमाण चाहिए जो ऐसा मानोगे तो अनवस्था दोष आवेगा ॥ ३ ॥ (उत्तर) हम लोग परमेश्वर और परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव को अनादि मानते हैं, अनादि नित्य पदार्थों में अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं आसक्ता जैसे कार्य्य से कारण का ज्ञान और कारण से कार्य्य का बोध होता है, कार्य्य में कारण का स्वभाव और कारण में कार्य्य का स्वभाव नित्य है वैसे परमेश्वर और परमेश्वर के अनन्त विद्यादि गुण नित्य होने से ईश्वर प्रणीत वेद में अनवस्था दोष नहीं आता ॥ १ । २ । ३ ॥

शुद्ध-(सर्वज्ञ) ईश्वर (अनादेरागमस्य अर्थः न) अनादि

वेद का [illegible] नहीं होसका (च) क्योंकि सर्वशास्त्र (आदिमान्) सादि हैं (तु) और यदि तुम वेद को सादि मानों तो (कृत्रिमेण, असत्येन) कृत्रिम=सादि, असत्य=अनित्य शास्त्र से (सुः) ईश्वर (कथं) कैसे (प्रतिपाद्यते) सिद्ध होसक्ता है ॥१॥ (अथ) यदि (तद्वचनेन, एव) ईश्वर के वचन से ही (अन्यैः) वादी को (सर्वज्ञ) ईश्वर (प्रदीयते) सिद्ध प्रतीत होता है तो (अन्योऽन्याश्रययोस्तयोः) एक दूसरे के आश्रित पदार्थों की (सिद्धि) सिद्धि (कथं) कैसे (प्रकल्पेत) कल्पना की जासकती है ॥ २ ॥ (सर्वज्ञोक्ततया) ईश्वर का कथन होने से (वाक्यं) वचन (सत्यं) सत्य और (तेन) उस वचन के सत्य होने से (तदस्तिता) ईश्वर की सिद्धि (तदुभयं) वह दोनो (सिद्धमूलान्तरात्, रिते) तीसरे स्वतन्त्र प्रमाण के विना (कथं) कैसे (सिध्येत्) सिद्ध होसकते हैं। यदि स्वतन्त्र प्रमाण से भिन्न कोई प्रमाण मानोगे तो प्रमाण धारा में पड़कर अनवस्था दोष आवेगा।

(उत्तर) हां! लौकिक शास्त्र सब सादि हैं परन्तु वेद अपौरुषेय तथा उन के सब शब्द यौगिक वा योगरूढी होने से लौकिक नहीं और इन के लौकिक वा सादि होने में कोई युक्ति वा प्रमाण भी नहीं है, इस से क्या आया कि वेद अनादि हैं और ईश्वर भी अनादि है क्योंकि उसका कोई कारण वा कर्त्ता सिद्ध नहीं होता, जब वेद और ईश्वर दोनों अनादि हैं तो उन में अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं आसक्ता अर्थात् जैसे कार्य्य में कारण का स्वभाव और कारण में कार्य्य का स्वभाव नित्य विद्यमान रहता है वैसे ही परमेश्वर तथा परमेश्वर के ज्ञानादि गुणों के नित्य होने से ईश्वरीय ज्ञानरूप वेद भी नित्य हैं। जब इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं आता तो अनवस्था दोष कैसे आसक्ता है ॥ १ । २ । ३ ॥

जीवनदास पेन्शनर लाहौर।

ओं शिवाय नमः ॥

इतिहासपुराणस्मृतिनहीं ॥

पं० शिवकुमार जी ने जो इतिहास पुराणको स्मृति होना सिद्ध करी था उस का उत्तर श्रोत्रिय शंकरलाल बिजनौर निवासी ने

सरस्वती यन्त्रालय-इटावा में

छपाकर प्रकाशित किया

प्रथमबार १०००] [मूल्य)॥

प्रबकर्त्ता अथवा मास्टर भगवानदास बिजनौर से मिल सकती है

श्रोत्रिय शंकरलाल की रचित पुस्तकें ॥

१ गंगामाहात्म्य ... ... =)

२ वर्णव्यवस्था ... ... =)

३ स्त्री अधिकार मीमांसा ... ... =)

४ विधवा पुनःसंस्कार ... ... =)

५ अशंका से हानी ... ... =)

६ केवल गंगास्नान से मोक्ष निर्णय ... ॥)

७ इतिहासपुराण स्मृति नहीं ... ...)॥

८ शिवपूजा ... ...)॥

९ कन्याग्रह भोजन ... ...)॥

१० समावर्त्तन काल निर्णय ... ...)॥

११ बालविवाह खण्डन ... ... -)

१२ वेश्यानाच निषेध ... ... -)

ओं नमः शिवाय ॥

देवबन्द जिला सहारनपुर की अदालत दीवानी में जो गंगाविषयक मुकद्दमा था जिस में बहुत से पंडितों की सम्मति ली गई थी, यद्यपि मैं पुराण इतिहास को भी वेदस्मृति अनुकूल मानता हूं परन्तु इस में केवल श्रुति स्मृति के ही प्रमाणों से केवल गंगास्नान से मोक्ष इत्यादि सिद्ध करना ठहरा था, परन्तु जब पंडित गोकुलप्रसाद जी ने इस से सिद्ध होना न जानकर पुराणों के प्रमाण भी लिखे थे जो अदालत में दाखिल करते समय पंडित जी ने उन्हे काट दिया, तत् पश्चात् पंडित जी ने वाल्मीकीय और महाभारत के प्रमाण लिख कर कहा कि यह भी स्मृति हैं ॥

जब पंडितों के पास प्रमाण गये तो श्रीमान् पं० शिवकुमार जी ने सोचा कि बिना इतिहास पुराणों की सहायता के केवल श्रुति स्मृति से तो पं० गोकुलप्रसाद का पक्ष सिद्ध नहीं होसकता है सब विचारों ने अपनी बुद्धि और व्याकरण के बल से इतिहास पुराणों को भी स्मृति होना सिद्ध करा है ॥

इस पर प्रथम पंडित जी ने अन्योन्याश्रय दोष दिखाया है सो ठीक नहीं है क्योंकि जहां आत्माश्रय दोष हो वहां अन्योन्याश्रय दोष आवश्यक है और यह तब होता कि जब हम श्रुति स्मृति दोनों ही को प्रमाण मान कर दोनों ही में शंका करते परन्तु हम को वेद में तो शंका है ही

नहीं और हम तो ब्राह्मण पुस्तकों को भी वेद ही मानते हैं, और वेद को तो आर्य्यलोग भी स्वतःप्रमाण मानते हैं। परन्तु पंडित जी विचारों का क्या दोष है कहावत है कि कामी को स्वप्न में भी स्त्री ही दिखाई देती है इस लिये पंडित जी ने यह जानकर कि शंका करने वाला आर्य्य ही होता है यही अपने चित्त में करके कि यह आर्य्य ही है सम्मति लिखना प्रारम्भ की,

मैं शपथ से कहताहूं कि मैं आर्य्य नहीं हूं परन्तु ऐसा सनातनी भी नहीं हूं कि सपात्रिक श्राद्ध में तो भोजन करना निषिद्ध और जगन्नाथ में अन्त्यज जाति का झूठा भात खा लेना अच्छा, या मांस और मदिरा खाने पीने वाले पण्डो के विना सुफल बुलवाये हुवे श्राद्ध का सुफल होना न समझूं॥

और हम तो सूत्रों को भी मानते हैं, पंडित जी ने कहा कि स्मृति कैसे जानेंगे इस में अन्योन्याश्रय दोष तो हो ही नहीं सकता क्यों कि जब हम ब्राह्मण को भी वेद मानते हैं और छान्दोग्य में लिखा है " मनुर्वैयत्किंचिद-वदत्तद्भेषजम् " इस लेख से मनुस्मृति तो हम को वेद से प्राप्त हुई और मनुस्मृति से हमने पाया कि " श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्म्मशास्त्रन्तुवैस्मृतिः " इस से यह विदित हुवा कि स्मृति नाम धर्म्मशास्त्र का है। अब हम को यह जिज्ञासा हुई कि स्मृति कितनी हैं और कौन २ उन के कर्त्ता हैं तो याज्ञवल्क्य के देखने से मालूम हुवा कि—

मन्वत्रिविष्णुहारीत याज्ञवल्क्योशनोङ्गिराः ।
यमापस्तम्बसंवर्ताः कात्यायनबृहस्पती ॥४॥
पराशरव्यासशङ्ख-लिखितादक्षगौतमौ ।
शातातपोवसिष्ठश्च धर्म्मशास्त्रप्रयोजकाः ५

अध्याय १

इस लिये पूर्वोक्त लिखितही महर्षियों का किया हुआ जो धर्म्मशास्त्र है वही स्मृति है और पृथक् २ ऋषियों के नाम से प्रख्यात हैं जैसे व्यास जी का कहा धर्म्मशास्त्र व्यासस्मृति मनुजी का मनुस्मृति इत्यादि ॥

इस से तो पं० शिवकुमार जी का कथन ठीक है क्यों कि पुराण इतिहास के भी तो कर्त्ता व्यास जी ही हैं और व्यास जी को स्मृतिकारों में भी गिनाया है इस लिये जो कुछ व्यास जी के रचे पुस्तक हैं वे सब स्मृति हुए ॥

सो ऐसा नहीं हो सकता है क्यों कि ऐसे तो वसिष्ठ जी ने जो योगवासिष्ठ और ज्योतिष की संहिता बनाई है वह भी स्मृति हुई ॥

यदि कोई कहे कि फिर इसमें हानी ही क्या है ? तो उसका यह उत्तर है कि जब व्यास जी ने सब वर्ण आदि के धर्म्म इतिहास पुराणों में ही कहदिये तब पृथक् स्मृति बनाना ही निष्फल रहा और दूसरे व्यासस्मृति का यह

विधिः। तस्यशास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन् ज्ञेयोनान्यस्यकस्यचित् ॥

सातवें, यदि पण्डितजी यौगिक अर्थ को ही मानकर कहें तब तो व्यवहार ही नष्ट हो जावेगा क्योंकि सामान्य अर्थ स्मृति शब्द का यह है कि जिस से वेदार्थ का स्मरण हो तब तो वेद भी स्मृति हुये क्योंकि ब्रह्माने पहिले कल्प के वेदार्थ को स्मरण करके यह वेद कहा है इस लिये यह स्मृति हुई, अथवा और जितने धर्म्म विषयक पुस्तक हैं वह सब वेद हो जावेंगे क्योंकि वेद में (विद्) धातु है जिस का अर्थ जानना है इस लिये पुराणादि ग्रन्थों से भी कुछ न कुछ धर्म्म जाना ही जाता है तब तो वह भी वेद हो गये और पुराण शब्द का अर्थ है कि जिस में पुरानी बात हो और वेदों में भी पुरानी वार्ता हैं इसलिये वेद भी पुराण हुये और श्रुति शब्दका अर्थ यह है कि जो सुनाजावे वह श्रुति ऐसा मानने से तो सब व्यवहार ही नष्ट हो जावेंगे क्योंकि इन शब्दार्थों पर चलने वाले के मत में सबही को पुराणत्व वेदत्व स्मृतित्व आगया यदि तुम स्मृति मांगो और तुम्हारा भृत्य पुराण ले आवे या तुम पुराण मांगो और वह वेद लावे तो उसकी कोई भूल नहीं कही जावेगी,

और श्रीमान् पंडित शिवकुमार जी ने लिखा है—

कि “अ०—१—पाद२—सूत्र २३ इस वेदान्तसूत्र के व्याख्यान में श्री शंकराचार्यजी स्मृतिरूप से भारतवाक्य लिखते हैं” और

"अ०-२, पाद-३ सूत्र-४, इस सूत्र पर भी भाष्य में स्मृति रूपेण पुराणवाक्य ही उदाहृत हैं"

इन व्याससूत्रों पर जो श्री शंकराचार्य जी ने भाष्य में इतिहास पुराणों को स्मृतिरूपेण लिखा है उस में सामान्य अर्थ लेकर गौणार्थपर ध्यानदेकर स्मरणादेव स्मृति लिया है।

और हमारा तो कथन पंडित गोकुलप्रसाद जी से मुख्यार्थ पर था जब ही तो केवल श्रुतिस्मृति से सिद्ध करना ठहराथा और यदि गौणार्थ पर होता तब तो सब ही स्मृति थी तब पं० गोकुलप्रसाद जी ने क्यों पुराणों के वाक्य काटे क्या उन को पहिले से यह मालूम नहीं था कि व्यास सूत्रों पर श्री शंकराचार्य जी ने भाष्य में पुराणों को स्मृतिरूपेण लिखा है और केवल श्रुतिस्मृति ऐसा लिखवाना वृथा ही रहा॥

और पंडित शिवकुमार जी ने यह जानकर भी कि यहा स्मृति शब्द के अर्थ से मुख्य अर्थ करने का आशय है परन्तु उन्होंके ऐसा करनेसे पं० गोकुलप्रसाद का पक्ष सिद्ध नहीं होता था और पंडित जी को जैसे कैसे भी हो उसे जिताना था इसलिये पक्षपात में होकर ऐसा अर्थ कर दिया॥

इस से तो ऐसा विदित होता है कि शब्दों का अर्थ जहां रूढी है वहां यौगिक और जहां यौगिक है वहां रूढी लगाकर दूसरे को परास्त करना पंडिताई है परन्तु ऐसा

करना तो गौतम ने निग्रहस्थान माना है (यानी ऐसा अर्थ करने वाले का पराजय हुआ) और यह धर्म भी नहीं है क्योंकि महाभारत में लिखा है विदुरनीती—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्म्मम् ।
नासौ धर्म्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥

व्यास स्मृति के अध्याय १ का चौथा श्लोक जो पूर्व लिख दिया है उस में लिखा है कि यदि पुराण और स्मृति में विरोध होवे तो स्मृति बलवती रहेगी यहा हम दोनों में परस्पर विरोध दिखाते है

ब्रह्मघ्नोमद्यपःस्वर्ण—स्तेयीचगुरुतल्पगः ।
तत्संयोगीभ्रूणहन्ता मातृहापितृहापुनः ॥
विश्वासघातीगरदः कृतघ्नोमित्रघातकः ।
अग्निदोगोवधकरो गुरुद्रव्यापहारकः ॥
महापातकयुक्तोऽपि संयुक्तोऽप्युपपातकैः ।
मुच्यतेश्रद्धयाजप्त्वा गङ्गानामसहस्रकम् " ॥
स्कन्दपुराणकाखण्ड अ० २ । ९ ॥

यम स्मृति अध्याय १ श्लोक ३६

मातरंगुरुपत्नींच स्वसृंदुहितरंस्नुषाम् ।
गत्वैताःप्रविशेदग्निं नान्याशुद्धिर्विधीयते ॥ ३५

संवर्त्त स्मृति अध्याय १ श्लोक १६२ ॥

पितृव्यदारगमने भ्रातृभार्यागमेतथा ॥
गुरुतल्पव्रतंकुर्या-न्निष्कृतिर्नान्यथाभवेत् १६

देखो स्कन्द पुराण में लिखा है कि गुरुस्त्रीगमन करने वाला एक सहस्त्रगंगा नाम के जप से शुद्ध हो जायगा परन्तु यमस्मृति का वाक्य है कि विना अग्नि के जले शुद्ध नहीं होगा और इसकी पुष्टी मनु से भी होती है तथाच मनुः अध्याय ११ श्लोक १०३

गुरुतल्प्यभिभाष्यैन-स्तप्तेस्वप्यादयोमये ॥ सूर्मींज्वलन्तींस्वाश्लिष्ये-न्मृत्युनासविशुद्ध्यति ॥

और पण्डित जी के मत में जब पुराण भी स्मृति हैं तब तो ऐसा पापी गंगा स्मरण से अवश्य शुद्ध हो जायगा परन्तु हम को इसका तब निश्चय हो जब ऐसे पापी के गंगाजप लेने पश्चात् उस के हाथ पं० जी खाना पीना आदि का व्यवहार करने लगें नहीं तो श्रीमान् पण्डित रामभिश्र जी का ही कहना ठीक होगा कि * काशी में

जब पहिले एक बड़े कायस्थ पं० जी से अपने वर्ण के विषय में पूछने आये तो पण्डित जी ने थैली की तरफ देख कर कह दिया कि तुम क्षत्री हो परन्तु जब उन्हों ने पंडित जी से यज्ञोपवीत लेना चाहा तो कह दिया कि हमारा व्यवस्था देने का काम है सो व्यवस्था देदी कर्मकाण्ड गौड़ करावेंगे उन के पास जाओ ।" परन्तु बड़े पंडित जी ने कायस्थों को क्षत्री वर्ण की व्यवस्था देते समय भी व्यासस्मृति का यह वाक्य नहीं देखा, अ० १ श्लोक ११ ॥

वणिक्किरातकायस्थ–मालाकारकुटुम्बिनः।
वरटोमेदचण्डाल–दासश्वपचकोलकाः ॥११॥
एतेऽन्त्यजाःसमाख्याता येचान्येचगवाशनाः॥

और शब्दों के अर्थ करने में जहां यौगिक है वहां योगरूढ़ और जहां योगरूढ़ी है वहां यौगिक मानकर अर्थ करने से बड़ा दूषण आवेगा यद्यपि वह अर्थ व्याकरण से ठीक भी हो । अब हम यहां थोड़े से शब्द लिखकर उन के अर्थ व्याकरण के अनुसार शुद्ध करते हैं यदि कोई उन को व्याकरण से अशुद्ध सिद्ध कर दे तब उस की पंडिताई जानें, परन्तु व्याकरण से शुद्ध होने पर भी उन के ऐसे अर्थ कोई नहीं स्वीकार करेगा ॥

(भृ) धातु से कर्म में प्रत्यय होकर भार्या शब्द होता है अर्थात् जिस का पोषण कराजावे वह भार्या है और पोषण तो

माता भगिनी आदि का भी करते हैं तो क्या वह सब भार्या ही कहलावेंगी ॥

(पति) (पाति रक्षयति-इति पतिः) जो रक्षा करे, वह पति हुआ इसलिये क्या पिता पुत्री की रक्षा करने से पति हो सकता है ? । क्योंकि वह उस का पोषण करता है ॥

(हन) धातु का गति अर्थ भी है इस लिये यदि हम कहें गुरुहन्ता तो इसका यह अर्थ भी हुवा कि गुरु के पास जाने वाला, परन्तु ऐसा कोई शुद्ध होने पर भी स्वीकार नहीं करेगा ॥

(गम) धातु का अर्थ गति है इस लिये गुरुस्त्रीगमन का अर्थ हुवा गुरु की स्त्री के पास जाना, जैसे तीर्थ गमन का अर्थ है तीर्थ में जाना, यदि हम किसी को तीर्थ गामी कहें तो वह कभी बुरा नहिं मानेगा परन्तु गुरुस्त्री गामी कहने से लड़ पड़ेगा, विचारो कि दोनों में जब एक ही धातु है जिस का अर्थ गति है तब क्यों चिड़ते हैं । और जो पंडित शिवकुमार जी कहें कि यह तो योगरूढी है तब तो हमारा भी स्मृति शब्द योगरूढी ही है और जो कहें कि हम यौगिक ही मानकर अर्थ करते हैं योगरूढी नहीं मानते तब पंडित जी जिस गंगा से मोक्ष चाहते हैं वह गंगा किस को मानेंगे, क्यों कि गंगा शब्द (गम्) धातु से बना है जिस के तीन अर्थ हैं १ गति, २ ज्ञान, ३ प्राप्ति और यह तीनों अर्थ बहुत जगह घट सकते हैं तब पंडित जी का

यह कहना कि जो गंगोत्री से निकली हो वही गंगा है कैसे सिद्ध होगा ? तब हारकर योगरूढी ही कहना पड़ेगा ॥

एक पंडित जी जो केवल व्याकरण ही पढ़ेथे और केवल धात्वर्थ पर ही विना प्रकरण इत्यादि विचारे अर्थ करले-तेथे, जब वह काशी से पढ़कर अपने देश में आये तो तब-दील आब हवा के कारण उन को रोग होगया, एकदिन विचारे किसी वैद्य के पास गये उन्हों ने परिडत महाराज की नाड़ी देखकर बहुत शोच विचार के पश्चात् ऐसी दवा बताई जिसमें परिडत जी के दाम भी खर्च न हों और गुण दायक भी, कहा कंटकारि को घोट कर और श्याह मिर्च डालकर पीलो दर्द जाता रहेगा, परिडत जी को अपने व्या-करण का अभिमान तो था ही वैद्य से विना ही पूंछे कि यह क्या दवा है और कहां से मिलेगी घर को सिधारे और घर जाकर सोचने लगे कि कंटकारि किस को कहते हैं जब उसका पदच्छेद करने लगे तो ऐसा हुवा कि कंटकानां अरिः तबपरिडत जी ने विचारा कि कटंक काटे को कहतेहैं और अरि वैरी को अर्थात् जो कांटे का वैरी हो और कांटे का वैरी जूता होता है क्योंकि जूते से पैर में कांटा नहीं ल-गता है परिडत जी ने घर में जो टूटा जूता पड़ा था घि-सकर और स्याह मिर्च डाल कर पी लिया परन्तु दर्द उन का नहीं गया तब थोड़ी देर बाद फिर वैद्यजी केपास आये और कहा कि दर्द को तो आराम नहीं है वैद्यजी ने कहा कि

क्या दवा पीली पण्डितजी ने कहा बहुत देर हुई वैद्यजी बोले भाई यह ओषधी तो आजकल जङ्गल में भी बड़े कष्ट से मिलती है पण्डित जी बोले महाराज हमारे तो घर में ही थी वैद्य जी को बड़ा आश्चर्य हुआ इस कारण उन्हों ने कहा कि लाकर दिखाओ तो सही, पण्डित जी महाराज कहते ही जूता उठा लाये और वैद्यजी के संमुख रखदिया वैद्यजी इस को देखकर क्रोधित होगये और बोले यह क्या हमारी भेंट करी है पण्डितजी ने कहा नहीं महाराज यह वही कंटकारी ओषधी है जो आप ने दर्द के वास्ते बताई थी, तब तो वैद्यजी उस की मूर्खता पर हंसने लगे और कहा कि महाराज आप के गुरु और आप की इस विलक्षण बुद्धि को धन्य है जब काशी के पढ़े हुये को भी कोई मूर्ख बतावे तो अवश्य क्रोध की बात है पण्डित जी ने कंट-कारि को उठाकर वैद्य के सिर पर मारा और कहा जो यह कंटकारि नहीं है तुम ही कंटकारि दिखाओ वैद्यजी वि-चारे बूढ़े मनुष्य और जाती के वैश्य थे और कुछ धर्म्मशास्त्र भी पढ़ा था इसलिये ब्राह्मण को मारने के वास्ते हाथ तक भी नहीं उठाया और हंस कर यह दोहा पढ़ा—

मूर्ख हृदय नचेत जोगुरु मिले विरंचिसम ।
फूले फले न वेद यद्यपि सुधा वर्ष जलधि ॥

ऐसे तो योगी शब्द गृहस्थि के वास्ते भी गीता में लिखा है ॥

गीता अध्याय ४ श्लोक २८

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ॥
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥

अर्थ, कितने योगी द्रव्य से यज्ञ करते हैं, यानी दानादिक करते हैं कितनेक उपवासादि तपरूप यज्ञ करते हैं तैसे ही और कितनेक पुण्यक्षेत्रादिक वासरूप योग करते हैं और कितनेक दृढव्रती यती याने यत्नशील हैं वह वेदाध्ययन वेदार्थविचार रूप यज्ञ करते हैं ॥ २८ ॥ कितने योगी द्रव्य से यज्ञ करते हैं यहां गृहस्थि से अभिप्राय है इसलिये योगी शब्द गृहस्थि वाचक हुआ क्योंकि योगी जब संन्यासी को कहेंगे तब ऐसा नहीं बन सकता है कि वह द्रव्यसे यज्ञ करे, परन्तु मुख्य अर्थ योगी शब्द के संन्यासी ही हैं= ॥इति॥

मूल्य घटाये हुए पुस्तकों का सूचीपत्र—

आर्य्यसिद्धान्त पूर्व का छपा दश भाग १२० अङ्क इकट्ठा लेने पर सब का मूल्य ५) होगा पृथक् २ प्रति भाग ॥=) उपनिषद्भाष्य—ईश ≡) केन ≡) कठ ॥=) प्रश्न ।≡) मुण्डक ।≡) माण्डूक्य ≡) तैत्तिरीय ॥-) ऐतरेय ।-) श्वेताश्वतर ॥-) इन सब ९ उपनिषदों पर संस्कृत और नागरीभाषा में अब तक अच्छा भाष्य हो चुका है। ९ उपनिषद् भाष्य इकट्ठे लेने वालों को ३॥) मनुस्मृति का धर्मान्दोलनसहित संस्कृत तथा नागरी भाषा में अत्युत्तम भाष्य का अलभ्य आनन्द पु० देखने से ही होगा, ३ अध्यायकी १ प्रथम जिल्द मूल्य २॥) द्वितीय जिल्द ६ अध्याय तक १॥) भगवद्गीता का ठीक शुद्ध २ संस्कृत नागरी भाषा मे भाष्य दूसरीवार का छपा १॥) गीतासंग्रह ।-) व्याकरण की पुस्तके—अष्टाध्यायी मूल तथा भाषा टीका १॥) अष्टाध्यायी मूल (मोटा अक्षर) ।) गणरत्नमहोदधि गणपाठ की संस्कृत व्याख्या और मूल श्लोक तथा अकारादि शब्द सूची सहित १) धातुपाठ [शब्दसिद्धि के सूत्र भी छपे है] ।) वैदिककर्मकाण्ड—पुण्याहवाचन-) दर्श पौर्णमासेष्टिपद्धति [श्रौतकर्मों का पहिला दुर्लभ पुस्तक] ॥) स्मार्त्तकर्मपद्धति ।) पञ्चमहायज्ञ -) इष्टिसंग्रह ।) उपनयनपद्धति ≡)॥ पतिव्रतामाहात्म्य मू० ≡)॥ सद्विचारनिर्णय -) पुत्रकामेष्टिपद्धति (पुत्रहोने की विधि) है -)। आयुर्वेदशब्दार्णव कोष ॥) भर्तृहरिनीतिशतक भाषा टीका =)॥ भ० वैराग्यशतकभाषाटीका ≡) यमयमीसूक्त का

अच्छा ठीक २ व्यवस्थायुक्त संस्कृत और भाषा भाष्य -)॥ सत्यभास्कर (छन्दों में पाषाणपूजा खण्डन) =) जीवभ्रान्तिविवेक -) विदुर नीति मूल टिप्पणी सहित =) सदुपदेश भजन आधा पैसा ॥) सैकड़ा । आरती नित्य वा उत्सव पर गाने के लिये)। में दो । आर्यसमाज के नियम =) सैकड़ा । व्याख्यान का सामान्य विज्ञापन =) प्रति सैकड़ा । अबलाविनय (स्त्रीशिक्षा) ।)॥ धर्मसिद्धान्त आठ्ना—हेखरामवध =) यज्ञोपवीतशङ्कासमाधि -) गङ्गातीर्थत्वविचार =) कन्यासुधार -) संगीतसुध सागर (भजन) -) वेश्यालीला १ भाग)॥ आर्यसमाज के नियमोपनियम)। धर्मलक्षणवर्णन =) पुनर्जन्म [पुनःजन्म होता है यह सिद्ध किया गया है =)॥ स्थावर में जीव विचार -) देवनागरीवर्णमाला)।*संगीतरत्नाकर =)*भजनामृतमनोहर =) गाजीमियां की पूजा)॥ सभासत्त्व =) शास्त्रार्थखुर्जा -) सत्यसंगीत)। स्वर्ग में सब्जेक्टकमेटी -)॥ ऐतिहासिकनिरीक्षण =) सुमतिसुधाकर =)॥ नीतिसार -) पाखण्डमतकुठार -) वनिताविनोद =) नलोपाख्यान -) गणितारम्भ -) चाणक्य भाषाटीका -)*शान्तिसरोवर =)*सुमतिसुधाकर -) संस्कृतप्रवेशिका =)॥*बारहमासा (भारतचित्र))॥ महर्षिवियोगशोक -) वर्णनिवृत्तिका)॥ दशनियमशिखरिणी में)। *सत्यार्थप्रकाश २) आदि स्वामी जी कृत सब पुस्तक यहां मिलते हैं बड़ासूची मंगाकर देखिये ॥

पता—भीमसेनशर्मा सरस्वतीप्रेस—इटावा (पश्चिमोत्तरदेश)

म ग्रन्थ प्रकाशन माला सं० ९

वेद और आर्यसमाज

—

लेखक व प्रकाशक

रायबहादुर ला० मूलराज एम० ए०

उपप्रधान परोपकारिणी सभा अजमेर

तथा

प्रथम प्रधान आर्यसमाज लाहौर

मिलने का पता—

महेश औषधालय

पापड़ मंडी लाहौर

१. वेद

एक समय था जब कि समस्त आर्यावर्त मे वेद के पवित्र सूक्तों का गान होता था और सारे देश मे यज्ञ किये जाते थे। उस समय समस्त देश मे भिन्न २ संस्थाये फैली हुई थीं जहां पर वेद पढ़ा पढ़ाया जाता था। प्रत्येक संस्था के पास वेद की अपनी विशेष संहिता या संग्रह था जो कि प्रायः उस संस्था के प्रधान ऋषि या आचार्य के नाम पर भेद या शाखा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार प्राचीन काल मे ही यजुर्वेद के १०१, सामवेद के १०००, ऋग्वेद के २१ और अथर्व-वेद के ९,शाखा या भेद हो गये थे। एक ही वेद की एक शाखा दूसरी शाखा से भिन्न थी जैसा कि एक शाखा का दूसरी शाखा के एक ही मन्त्र के पाठभेद से प्रतीत होता है। साथ ही साथ मन्त्रों की संग्रह-पद्धति भी एक शाखा की दूसरी शाखा से भिन्न थी। कुछ मन्त्र एक शाखा मे पाये जाते थे, वे दूसरी मे नहीं पाये जाते थे।

ज्यों ज्यों हिन्दुओं का उन्नति के मार्ग पर बढ़ने का उत्साह शिथिल होता गया त्यों त्यों शाखाओं या भेदों का बढ़ना भी बंद होगया और जैसे जैसे पठन पाठन कम होता गया तैसे तैसे पिछली शाखायें लुप्त होने लगीं।

चरणव्यूह के प्रणेता के समय ऋग्वेद की शाखाये (भेद) ५; यजुर्वेद की ८६; और सामवेद की १६ रह गई थीं। ऋग्वेद की निम्नलिखित शाखाये थीं—

(१) आश्वलायनी (२) शांखायनी (३) शाकल (४) बाष्कल (५) माण्डुकेय।

इसके उपरान्त जैसे जैसे हिन्दुओं की शक्ति का ह्रास होता ग[illegible] विद्या का प्रचार कम होता गया, तैसे तैसे शाखाओं की संख्या भी

होती गई। ऋग्वेद की दो, (१) शाकल और (२) बाष्कल; यजुर्वेद की छः (१) कठ (२) कापिष्ठल (३) मैत्रायणी (४) तैत्तिरीय (५) माध्यन्दिनी और (६) काण्व, सामवेद की दो (१) कौथुमी और (२) राणायणीय और अथर्ववेद की दो (१) शौनक तथा (२) पैप्पलाद शाखाये रह गयीं।

संस्कृत के हस्तलेखों का अन्वेषण अभी जारी है, सम्भव है ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद की अन्य शाखाये भी प्राप्त हो जांय।

उत्तरीय भारतवर्ष में माध्यन्दिन शाखा का प्रचार था जिसको शुक्लयजुर्वेद कहते हैं। दक्षिण भारत मे तैत्तिरीय शाखा का प्रचार था जिसको कृष्णयजुर्वेद कहते हैं। महीदास चरणव्यूह के भाष्य मे लिखते हैं कि सामवेद की कौथुमी शाखा का प्रचार गुजरात में था, जैमिनीय का कर्णाटक मे, और राणायणीय शाखा का महाराष्ट्र मे। परन्तु इनमे से अन्तिम दोनों शाखाये उन प्रदेशों से लुप्त हो गयीं हैं। अब केवल सामवेद की कौथुमी शाखा ही मिलती है। कौथुमी शाखा की १५४९ ऋचाओं मे मे १४७१ ऋचाये ऋग्वेद की शाकल शाखा मे पाई जाती हैं और जो ७८ ऋचाये शाकल से भिन्न पाई जाती हैं उनसे प्रतीत होता है कि ये ७८ ऋचाये भी ऋग्वेद की शाकल से अन्य किसी शाखा की हैं, क्योंकि ऋग्वेद की ही ऋचाओं के गान को 'साम' कहते हैं*।

* प० शिवशङ्कर काव्यतीर्थ अपनी 'वैदिक-इतिहासार्थ निर्णय' पुस्तक आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब द्वारा प्रकाशित और सद्धर्म प्रचारक प्रेस गुरुकुल काङ्गड़ी मे मुद्रित—की भूमिका में लिखते हैं। "सामवेद मे १५४९ पन्द्रह सौ उनचास ऋचायें है इनमे से ७८ ऋचाओ को छोड़ कर अन्य सब ही ऋचायें ऋग्वेद मे पाई जाती हैं अतः सामवेद ऋग्वेद के अन्तर्गत ही समझा जाता है। अतः सामवेद को गणना के अनुसार ऋग्वेद ही समझना चाहिये। वही ऋचा जब गायी जाती है तब [illegible]वेद के नाम से पुकारी जाती है।"

यजुर्वेद मे गद्य तथा पद्य दोनो मिश्रित है। पद्य भाग ऋग्वेद की ऋचाये है और गद्य भी यज्ञ मे ऋचाओं के समान ही उच्चारण किया जाता है। किस प्रकार किस यज्ञ मे उनका विनियोग होता है, यह ब्राह्मण ग्रन्थों मे बताया गया है। यजुर्वेद का प्रायः अर्धभाग ऋचाये हैं। यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा मे कुछ ऐसी ऋचाये है जो ऋग्वेद की शाकल शाखा मे नहीं पायी जातीं। यह इस बात को प्रकट करता है कि वे ऋचाये ऋग्वेद की किसी शाखा मे से ली गयी है जो इस समय हस्तगत नहीं है*।

गोपथ ब्राह्मण मे लिखा है कि वस्तुत अथर्ववेद के केवल १०काण्ड थे और तदनुसार यह प्रतीत होता है कि १० काण्ड पीछे से बढ़ाये गये। इसमे अधिकतर ऋचाये ही है जो ऋग्वेद की शाकल शाखा मे पाई जाती हैं। जो ऋचाये शाकल शाखा मे नहीं पाई जाती वे अवश्य ही शाकल से भिन्न ऋग्वेद की किसी शाखा से ली गयी है*।

---

* पं० गिरिशङ्कर काव्यतीर्थ उसी पुस्तक की भूमिका मे लिखते है — "यजुर्वेद मे ४० अध्याय है। इनमे से १९७४ एक सहस्र नौ सौ चौहत्तर कण्डिकाएँ और ऋचाये हैं। प्राय अर्ध भाग ऋग्वेद के ही अन्तर्गत है। अत ऋग्वेदीय मन्त्र यदि पृथक् कर दिये जायँ तो यह अर्ध ही रह जाता है।"

*उक्त पं० जी उसी पुस्तक की भूमिका मे लिखते हैं—'अथर्ववेद इसमे २० काण्ड है। सब काण्डो की सूक्त संख्या ७६० और इनमे करीब ६००० छै सहस्र ऋचाये है। इनमे भी ऋग्वेदीय ऋचाये बहुत है।"

२. कौन आर्यसमाज का सभासद् हो सकता है ?

आर्यसमाज के उपनियम सं० ३ में बतलाया गया है कि जो कोई आर्यसमाज का सभासद् बनना चाहे उसको निम्नलिखित प्रार्थना पत्र भेजना चाहिये—

"मैं प्रसन्नता पूर्वक आर्यसमाज के उद्देश्यों के जैसा कि नियमों मे वर्णन किये गये हैं अनुकूल आचरण स्वीकार करता हूँ। मेरा नाम आर्यसमाज में लिख लें।"

उपनियम २—बतलाता है कि इस समाज के उद्देश्य वही हैं जो (दस) नियमों मे वर्णन किये गये हैं।

आर्यसमाज का तीसरा नियम इस प्रकार है—

"वेद सत्य विद्याओं का पुस्तक है वेद का पढ़ना पढ़ाना तथा सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है"। ऐसा मूल नियम बनाया गया था परन्तु इस नियम मे प्रमाद से या अन्यथा 'सत्य विद्या' से पूर्व 'सब' जोड़ कर 'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है' बदल कर बना दिया गया।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वेद क्या है जिस के पढ़ने पढ़ाने तथा सुनने सुनाने का परम कर्त्तव्य समस्त आर्यों का है। नियम तथा उपनियम विशद रूप से कुछ भी नहीं बतलाते कि किस वेद के पढ़ने पढ़ाने और सुनने सुनाने का समस्त आर्यों का परम धर्म है।

'स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश' में जो कि सत्यार्थ प्रकाश के दूसरे संस्करण के अन्त मे जोड़ा गया था, स्वामी दयानन्द सरस्वती जी की मृत्यु के समय सन् १८८३ में छप रहा था, स्वामी जी लिखते हैं—'चारों वेदों' विद्या धर्म्म ईश्वर प्रणीत संहिता मन्त्र भाग को निर्भ्रान्त, स्वतः प्रमाण मानता हूँ। वे स्वयं प्रमाणरूप हैं कि जिन के प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं।" स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने अपने स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश में चारों वेदों का नाम नहीं

लिखा। ना ही यह बतलाया कि चारों वेदों की कौन सी शाखायें थीं जिन पर उनका परमात्मा से प्रकट होने का विश्वास था।

यद्यपि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने अपने स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश में चारों वेदों के नाम तथा चारों वेदों की किस शाखा को ईश्वर-प्रणीत मानते थे, इस बात का उल्लेख नहीं किया, तथापि यह बात कि, उन्होंने ऋग्वेद की शाकल शाखा पर और यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा पर अपना भाष्य लिखा है, सिद्ध करती है कि वे इन शाखाओं को ईश्वर-प्रणीत मानते थे। उन्होंने सामवेद तथा अथर्ववेद पर कोई भाष्य नहीं लिखा और नाही यह बतलाया कि सामवेद तथा अथर्ववेद की कौन सी शाखा है जो ईश्वर प्रणीत है।

हां, यह पता चलता है कि स्वामी जी मानते थे कि वेद चार हैं— ऋग्, यजुः, साम, अथर्व, और ऋग्वेद शाकल शाखा तथा यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा वेद हैं; परन्तु उन्होंने आर्य समाज के नियमों में यह नहीं बतलाया कि वेद चार हैं, जिनका पढ़ना पढ़ाना आर्यसमाज के सभासदों का परम कर्त्तव्य है, और नाही नियमों मे यह बतलाया है कि वेदों की किस शाखा को पढ़ें पढ़ावें। उन्होंने नियमों में 'वेद' एक वचन में प्रयुक्त इस लिए ही किया था कि आर्य समाज एक उदार सार्वभौम धर्म बनाया जाय जो समस्त भारतवर्ष में फैले और जिसमें हिन्दू जाति के भिन्न २ प्रकार के विचार वाले सब प्रान्तों के लोग चाहे वे एक वेद में विश्वास रखते हों, दो में, तीन में या चार में या किसी वेद की किसी शाखा में विश्वास रखते हों सब के सब सम्मिलित हो सकें। यहां विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि सन्१८७५ में बम्बई समाज के स्थापित होने के समय की आर्यसमाजनियमव्यवस्था में स्वामीजी ने दूसरे नियम मे लिखा था 'इस समाज में मुख्य स्वतः प्रमाण वेदों को ही माना जायगा'। सन्१८७७ में वर्तमान तीसरे नियम में उन्होंने 'वेदों को' बहुवचन के स्थान पर 'वेद'यह साभिप्राय एकवचन लिखकर समाज का क्षेत्र विशाल कर दिया जो कोई किसी भी वेद या शाखा पर विश्वास करे वह आर्यसम

का सभासद् हो सकता है। वे अपने आप विश्वास करते थे कि वेद चार हैं। परन्तु उनका ध्येय यह कभी नहीं था कि वे अपनी सम्मति का लोगों पर दबाव डालें। अगर स्वामी जी नियमों में यह लिख देते कि वेद चार हैं जिनके माननेवाले ही आर्यसमाज में प्रविष्ट हो सकते हैं तो आर्यसमाज का दरवाजा उनके लिये जो एक वेद में या दो, या तीन में विश्वास रखते हों बंद कर देते। उन्होंने उन हिन्दुओं के वास्ते आर्यसमाज का दरवाजा बन्द कर दिया होता जो लोग तैत्तिरीय ब्राह्मण के प्रणेता के समान 'वेदाः वै अनन्ताः' (तै.ब्रा. ३,१०,११) पर विश्वास करते हैं। उन्होंने उन लोगों के लिये दरवाजा बन्द कर दिया होता जो मानते हैं कि वेद एक ही ऋग्वेद है, तथा उन लोगों के लिये भी जो यह मानते हैं कि यजुर्वेद यज्ञ के लिये रचा गया है। उन्होंने आर्यसमाज का दरवाजा उनके लिये बन्द कर दिया होता जो मानते हैं कि सामवेद ऋग्वेद की ऋचाओं का संग्रह है जो कि विशेष संस्कार के समय गाये जाते हैं। यदि स्वामी दयानन्द अपने नियमों में यह निश्चित कर देते कि २० काण्डों का अथर्ववेद है तो वे उन लोगों के लिये जो अथर्ववेद को प्रथम १० काण्ड का ही मानते हैं आर्यसमाज का दरवाजा बन्द कर देते। यदि स्वामी जी नियमों में यह निश्चित कर देते कि शौनक शाखा का ही अथर्ववेद है तो वे उन लोगों के लिये जो पैप्पलाद शाखा को मानते हैं आर्यसमाज का दरवाजा बन्द कर देते। यदि वे लिख जाते कि आर्य समाज के सभासदों का परम कर्त्तव्य ऋग्वेद की शाकल शाखा का ही पढ़ना पढ़ाना है तो उसी वेद की वाष्कल शाखा को मानने वालों के लिये कोई मार्ग नहीं रह जाता।

मतान्ध लोगों का साम्प्रदायिक संकोच और दुराग्रह हिन्दू जाति को बहुत हानि पहुँचा कर रहा है और भिन्न २ वेद तथा भिन्न शाखाओं के मानने वालों के बीच में वैमनस्य का बीज बो रहा है। एक वेद या एक शाखा के मानने वाले कई बार दूसरे वेद तथा दूसरी शाखा के मानने वालों के साथ बड़ी असहिष्णुता का व्यवहार

करते हैं। परन्तु स्वामी जी की विचारधारा के अनुसार भिन्न २ वेदों के भिन्न २ शाखाओं के मानने वाले शान्ति पूर्वक आर्यसमाज की वेदी के ऊपर मिल बैठ सकते हैं। आर्यसमाज भेदभाव व वैमनस्य के स्थान पर एकता और परस्पर प्रेम के भाव फैलाता है। जो कोई किसी वेद या किसी वेद की शाखा को पढ़ता है वह आर्य समाज के उद्देश्य को पूरा करता है, तदनुसार आचरण करने और वेद के पढ़ने पढ़ाने की प्रतिज्ञा करता है। एक पुरुष जो आर्यसमाज में प्रविष्ट होता है वह अपने आचरण को आर्य-समाज के उद्देश्यों के अनुसार बनाना स्वीकार करता है। इस स्वीकृति का यह अर्थ नहीं है कि वह मान लेता है 'कि वेद सत्य विद्या का पुस्तक है'। परन्तु वेद के स्वाध्याय के लिये वह अपने को बाध्य करता है। वेद के पढ़ने से कुछ काल के अनन्तर उसका विश्वास हो जायगा कि 'वेद सत्य विद्या का पुस्तक है'। यह कैसे हो सकता है कि आर्यसमाज में प्रविष्ट होते ही बिना पढ़े कह सके कि 'वेद सत्य विद्या का पुस्तक है।'

स्वामी जी महाराज इस प्रकार के दम्भी पुरुषों को जिन्होंने वेद को पढ़ा नहीं है और केवल 'वेद सत्य विद्याओं का पुस्तक है' कहते हैं, आर्यसमाज का सभासद् कभी नहीं बनाना चाहते थे। वे सीधे सादे तौर पर चाहते थे सभासद् होने वाला व्यक्ति आर्यसमाज के उद्देश्य के अनुसार जो नियमों में बतलाया है आचरण करने की और वेद को पढ़ने पढ़ाने तथा सुनने सुनाने की प्रतिज्ञा करे। उसके पढ़ने सुनने से स्वामी जी आशा करते थे कि शनैः शनैः वह यह मानने लग जायगा कि 'वेद सत्य विद्या का पुस्तक है।'

आर्यसमाज के नियमों में दो बातें हैं। एक विश्वास, दूसरा आचरण का निर्देश। तीसरे नियम का पहला भाग 'वेद सत्य विद्या का पुस्तक है' विश्वास को प्रकट करता है। दूसरा भाग 'वेद का पढ़ना पढ़ाना सुनना सुनाना आर्यों का परम कर्त्तव्य

यह आचरण के प्रति निर्देश है। जब कोई पुरुष आर्यसमाज में प्रविष्ट होना चाहता है तो उसको उस प्रार्थना पत्र पर हस्ताक्षर करने पड़ते हैं कि वह आर्यसमाज के उद्देश्य के अनुसार अपना आचरण बनाने की प्रतिज्ञा करता है। वह अपने को 'वेद के पढ़ने पढ़ाने और सुनने सुनाने' के लिये नियमबद्ध करता है। यह आवश्यक नहीं है कि वह 'वेद सत्य विद्या का पुस्तक है' इस बात के मानने की घोषणा कर दे।

स्वामी जी मानते थे कि जब लोग पढ़े पढ़ावेंगे और सुने सुनावेंगे तो उनका विश्वास हो जायगा कि 'वेद सत्य विद्या का पुस्तक है'। वे जानते थे कि दूसरे के मन की पूरी जांच करना कि वह क्या मानता है, अति कठिन है और यह भी जानते थे कि बलात्कार से अपनी सम्मति को उस आदमी पर जिसने वेद नहीं पढ़ा है डालना और उसको यह मानने के लिये बाध्य करना कि 'वेद सत्य विद्या का पुस्तक है' क्रियात्मक नहीं हैं। वे किसी को दम्भी नहीं बनाना चाहते थे। उनका अभिप्राय था कि जो आदमी आर्यसमाज में प्रविष्ट होना चाहता है वह प्रतिदिन वेद का स्वाध्याय करेगा और उस स्वाध्याय से उसके अन्दर वेद के प्रति आदरबुद्धि होती जायगी। वे अपने आप भी प्रतिदिन वेद का स्वाध्याय करते थे और मानते थे कि 'वेद सत्य विद्या का पुस्तक है।'

शतपथब्राह्मण (जो कि यजुर्वेद का ब्राह्मण है) और ऐतरेय ब्राह्मण (जो ऋग्वेद का ब्राह्मण है) के समय में अथर्ववेद को वेद नहीं माना जाता था। जैसे कहा है 'त्रयी वै विद्या। ऋचो यजूंषि सामानि (शत० ४,६,७,१)। 'सा वा वाक् त्रेधा विहिता ऋचो यजूंषि सामानि (१०, ५, १, २)। अर्थात् ऋग्, यजुः, साम ये तीन विद्यायें (=वेद) हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (५,३२) में लिखा है 'त्रयो वेदाः अजायन्त' अर्थात् तीन वेद उत्पन्न हुए।

यजुर्वेद दोनों प्रकार के गद्यात्मक तथा पद्यात्मक मन्त्रों का संग्रह

है जो कि विविध यज्ञों में उच्चारण किये जाते थे।*

यज्ञों का अब कोई उपयोग नहीं रहा है। कोई भी उनका अनुष्ठान नहीं करता। इस लिये यजुर्वेद के स्वाध्याय तथा उच्चारण करने के लिये आर्यसमाज के सभासदों को बाध्य नहीं करना चाहिये।

---

* शतपथ ब्राह्मण शुक्ल यजुर्वेद के मन्त्रों के विषय में बतलाता है। प्रथम अध्याय की प्रथम कण्डिका से लेकर २रे अध्याय की २८वीं कण्डिका तक मन्त्र 'दर्शपौर्णमास यज्ञ' में बोले जाते हैं' (देखो शत०ब्रा० १,७,१,१ से काण्ड के अन्त तक)। यजुर्वेद के २रे अध्याय के २८वें मन्त्र के बाद के मन्त्र 'पिण्ड पितृयज्ञ' में बोले जाते हैं उसी वेद के ३रे अध्याय के मन्त्र 'अग्न्याधान' 'अग्निहोत्र' और 'चातुर्मासयज्ञ' में बोले जाते हैं। ९वें अध्याय की २४वीं कण्डिका के मन्त्र 'सोम यज्ञ' (राजसूय, सौत्रामणि, और अश्वमेध आदि) में बोले जाते हैं। किसी २ यज्ञ में पशु-हिंसा का भी विधान है।

स्वामी जी अपने शुक्ल यजुर्वेद के भाष्य में लिखते हैं कि यजुर्वेद में कुछ ऋचायें यज्ञ की आसानी के लिये दुहराई गई हैं अर्थात् एक ही ऋचा अलग अलग यज्ञो में बोली जाती है इस वास्ते वह दुहराई भी जाती है। ऋग्वेद की ऋचायें 'तं प्रत्नथा०' और 'अयं वेनः०' यजुर्वेद के ३३वें अध्याय के २१ (आसुते.) मन्त्र के बाद दुहराई गई हैं। स्वामी जी यजुर्वेद भाष्य प्रथम सस्करण पृष्ट ८७८ पर लिखते हैं कि 'तं प्रत्नथा०' 'अयं वेनः०' ये दो प्रतीकें पूर्व कहे अ० ७ म० १२ तथा १६की यहाँ किसी कर्म-काण्ड विशेष में बोलने के अर्थ रखी है।" पुनः ऋचायें 'तं प्रत्नथा०, अयं वेनः०, चित्र देवानां०' यजुर्वेद के ३३वें अध्याय के ३३वें मन्त्र (दैव्यावध्वर्यू०) के बाद दुहराई गई है। स्वामी जी यजुर्वेद भाष्य पृष्ट ८९६में लिखते हैं "ये तीन प्रतीकें पूर्व अ० ७, मं० १२,१ ४२ कहे मन्त्रों का कर्म-काण्ड विशेष में कार्य के लिये यहाँ रखी ग हैं।" पुनः ऋग्वेद की ऋचायें 'तं प्रत्नथा०। अयं वेनः०। ये देवासः० आन इडाभिः०। विश्वेभिः सोम्यं मधु। ओमासश्चर्षणीधृत०'यजुर्वेद

'सामवेद' ऋग्वेद को ऋचाओं का संग्रह है जोकि गान के लिये प्रयुक्त होती हैं। ऋचाओं का गान इस समय प्रचलित ही नहीं है। यत्र तत्र विरला ही आदमी गान जानने वाला मिलेगा।

यदि कोई सभासद् ऋग्वेद को पढ़ता है उसके लिये 'नियमों' के अनुसार यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद का पढ़ना जरूरी नहीं है और केवल ऋग्वेद को ही पढ़ते हुए उसका अधिकार है कि वह आर्यसमाज का सभासद् हो।

इसी प्रकार ऋग्वेद के मूल संग्रह तथा अनुवाद को पढ़नेवाला बिना यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद के पढ़े हुए भी आर्यसमाज का सभासद् हो सकता है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने आर्यसमाज को विशाल सार्वभौम दस नियमों के आधार पर बनाया था। प्रथम दो नियम अनादि अनन्त, सर्वशक्तिमान्, परमात्मा की पूजा के विषय मे है।

तीसरा नियम बतलाता है कि जो कोई आर्यसमाज मे प्रविष्ट होना चाहे उनका परम कर्त्तव्य है कि वेद को पढ़े पढ़ावे सुने सुनावे।

शेष नियम निम्नलिखित है—

४. सत्य के ग्रहण करने और असत्य के त्यागने मे सर्वदा सबको उद्यत रहना चाहिये।

५. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार कर करने चाहिये।

३३वे अध्याय के ४७वे मन्त्र (अवि न इन्द्रेषाम्०) के बाद दुहराई गई है। स्वामी जी यजुर्वेद भाष्य पृष्ठ ९१६ के टिप्पण मे लिखते है कि 'इस मन्त्र के आगे पूर्व अ० ७, म० १२, १६, १९, अ० ३३ म० ३४, १०; अ० ७, म० ३३। इस क्रम पूर्वक ठिकाने आख्यात हो चुके है, यहाँ कर्म काण्ड विशेष के लिये प्रतीके दी है।" इसी प्रकार की टिप्पण ऋग्वेद की ऋचाओ के दुहराने के विषय में यजुर्वेद भाष्य पृ० ९८८, १०८३, इत्यादि मे स्वामी जी ने दी है।

६. ससार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७. सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये।

८. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति मे सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सब की उन्नति मे अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्व हितकारी नियम पालने मे परतंत्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम मे सब स्वतत्र रहे।

इस प्रकार आचार-व्यवहार के अत्युच नियमों का प्रचार करने के साथ साथ आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द ने एक अनादि अनन्त, सर्वव्यापी, परमात्मा की उपासना तथा वेदों के अनिवार्य-स्वाध्याय की ओर पूर्ण बल-पूर्वक प्रेरणा की है।

ओं शम्

मुद्रक—श्रीदेवचन्द्र विशारद, हिन्दी भवन प्रेस, लाहौर